शिवानी

आमादेर शान्तिनिकेतन

क्रम

भूमिका : 7
गुरुपल्ली : 12
गुरुदेव की कर्मभूमि : 22
शान्तिनिकेतन की गुरुपल्ली : 27
आश्रम के पर्व : 68
कुछ महत्त्वपूर्ण उत्सव : 74
आश्रम के विकास में गुरुदेव के योग : 77
गांधीजी और गुरुदेव : 80
अनेक विभूतियों का आगमन : 82
श्रीनिकेतन का मेला : 87
खेलकूद और मनोरंजन : 89
आश्रमवासियों के लिए गुरुदेव के गीत : 91
छात्रों का अतिथि–प्रेम : 96
गुरुदेव की आत्मीयता : 97
सादा पर कलापूर्ण रहन–सहन : 101
आश्रम पर काले बादल : 103

भूमिका

शान्तिनिकेतन, गुरुदेव कवीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की सर्वोत्तम कृति मानी जाती है। यद्यपि उन्होंने उच्चकोटि के तथा विविध विषयों के ग्रंथों का निर्माण किया था, तथापि भारतीय शिक्षा–क्षेत्र में, उनके शान्तिनिकेतन तथा विश्वभारती का जो प्रभाव पड़ा, वह निःसंदेह अत्यन्त व्यापक था।

कितने ही हिन्दी भाषा–भाषी छात्रों और अध्यापकों को शान्तिनिकेतन में पढ़ने–पढ़ाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था और उनमें से कितनों ने, उन संस्थाओं के बारे में संस्मरण लिखे हैं। उनमें से कुछ को पढ़ने का मौका मुझे मिला है। आचार्य श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस विषय पर काफी लिखा है और मैं भी कई बार लिख चुका हूं। पर अब तक, शान्तिनिकेतन के विषय में जितने लेख मेरे पढ़ने में आए हैं उनमें श्रीमती शिवानी की यह पुस्तक मुझे सर्वोत्तम जंची। यह आश्चर्य की बात है कि आश्रम की एक छात्रा, सबसे आगे बढ़कर, बाजी मार ले गई और प्रतिष्ठित कहे जाने वाले लेखक पिछड़ गए। बन्धुवर हजारीप्रसाद जी तो यह कहकर संतोष कर सकते हैं—'शिष्यात् इच्छेत् पराजयम्।' अर्थात् शिष्य से पराजय की इच्छा करे, पर मेरे–जैसा व्यक्ति, जो

आश्रम में सर्वप्रथम 1918 में गया था और जो वहां चौदह महीने रहा भी था, अपने को क्षमा नहीं कर सकता।

शिवानी की असाधारण सफलता का मुख्य कारण यही प्रतीत होता है कि हर चीज को सूक्ष्म दृष्टि से देखने की क्षमता उनमें विद्यमान है, भाषा पर उन्हें अधिकार है और अपने हृदगत् भावों को वे ज्यों का त्यों प्रगट कर सकती हैं। इस पुस्तिका को पढ़कर, हमारे मन में सबसे पहले यही भाव आया कि हमने ऐसी किताब क्यों नहीं लिखी। पर हम इतनी सफलतापूर्वक लिख भी सकते या नहीं, यह प्रश्न ही दूसरा है !

शिवानी, एक ऐसे अवसर पर उस संस्था में पहुंची थीं जब कि उनके कोमल हृदय पर प्रभाव पड़ सकता था। बांग्ला भाषा का जो ज्ञान उन्होंने अर्जित किया वह भी उन्हें बहुत सहायक हुआ। अब मुझे इस बात का पछतावा आता है कि मैंने बांग्ला का विधिवत् अध्ययन क्यों नहीं किया ? तब मैं बांग्ला भाषा–भाषियों के हृदय तक पहुंच सकता था।

आश्रम का वह सुप्रसिद्ध गीत 'आमादेर शान्तिनिकेतन' मैंने पहले–पहल सन् 1918 में सुना था और उसे इस पुस्तिका में पढ़कर मुझे तिरपन वर्ष पहले ही याद आ गई।

'भीगने की छुट्टी' का विवरण पढ़कर हमें हार्दिक हर्ष हुआ, और उसने हमें ईथिल मैनिन की पुस्तक

'रोटी और गुलाब' (Bread and Roses) का स्मरण दिला दिया। उसमें उस अंग्रेज महिला ने भी लिखा था कि वसन्त ऋतु में तो पढ़ाई–लिखाई भी बन्द कर देनी चाहिए। गुरुदेव के उदार स्वभाव का वर्णन शिवानी ने बड़े ही मर्मस्पर्शी शब्दों में किया है। वे आठ वर्षों तक उस आश्रम में रहीं और उन्होंने अपने समय का सर्वोत्तम उपयोग भी किया। हिन्दी–जगत् में शिवानी ने, अपना जो विशेष स्थान बना लिया है वह शान्तिनिकेतन की ही देन है। मैंने उनकी बड़ी बहन जयन्ती और भाई त्रिभुवन को भी छात्रावास में देखा है। जयन्ती से गुरुदेव ने कहा था–"शान्तिनिकेतन का कोई भी छात्र या छात्रा कहीं जाएगा तो एक छोटे–से शान्तिनिकेतन का निर्माण करने की इच्छा, उसके मन में सदैव जाग्रत रहेगी।"

जो छोटी–छोटी घटनाएं यथास्थान इस पुस्तिका में दी गई हैं वे ही इसकी जान हैं। राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू के आश्रम में पधारने की बात, बड़े मनोरंजक ढंग से लिखी गई है। आश्रम के बस–चालक नीलमनी बाबू का संक्षिप्त रेखाचित्र बहुत अच्छा बन पड़ा है। वे बड़े गर्व से कहते–"यह बस क्या कोई ऐसी–वैसी है ? गांधी बाबा को भी बिठाकर लाया हूँ इसमें !" आलू–परवल का किस्सा भी अत्यन्त मनोरंजक है। आश्रम के विकास में गुरुदेव के योगवाला अध्याय, काफी प्रेरणाप्रद हैं। गुरुदेव की धर्मपत्नी ने जिस प्रकार अपने गहने बेचकर आश्रम की रक्षा की थी और गुरुदेव को, अपनी दो पुत्रियों

तथा कनिष्ठ पुत्र की मृत्यु के कारण कैसा कठोर आघात पहुंचा, पर वे फिर भी कर्मपथ से विचलित नहीं हुए, यह मर्मस्पर्शी वर्णन निश्चय ही सुन्दर बन पड़ा है।

शान्तिनिकेतन की विभूतियां, आश्रम में गांधी दिवस, खेल–कूद, मनोरंजन, ये अध्याय सुपाठ्य एवं सरस हैं। क्या ही अच्छा होता यदि इसमें श्री विधुशेखर भट्टाचार्य, बड़े दादा तथा नन्दलाल बोस के भी रेखाचित्र सम्मिलित किए जाते। जिन अध्यापकों के नाम इसमें मिलते हैं, उनमें से बहुतों के दर्शन करने का सौभाग्य हमें भी प्राप्त हुआ था।

'गुरुदेव चले गए' शीर्षक वृत्तान्त हृदयवेधक है–गुरुदेव की उस कविता–

आमार जाबार समय होलो–
आमार कैनो राखीस धरे ?

("मेरे जाने का समय हो गया है,
अब मुझे पकड़कर क्यों रखते हो")

को यथास्थान देकर शिवानी ने उस प्रसंग को और भी प्रभावोत्पादक बना दिया है।

जैसा कोई कुशल कलाकार, अपनी तूलिका के कम–से–कम प्रयोग द्वारा अनेक सजीव चित्र उपस्थित कर देता है, वैसे ही इस छोटी–सी पुस्तक की यशस्वी लेखिका ने, गुरुदेव तथा उनके आश्रम की बीसियों मनोहर झांकियां पाठकों को दिखला दी हैं।

किसी भी पुस्तक की सबसे बड़ी सफलता यही मानी जानी चाहिए कि वह पाठकों को उसी प्रकार की रचनाओं के लिए प्रोत्साहित करे और इस दृष्टि से शिवानी की यह कृति एक सफल रचना है।

फीरोजाबाद **–बनारसीदास चतुर्वेदी**

गुरुपल्ली

आज, जब मैं अपने उन गुरुजनों का स्मरण करती हूं, जिनसे मुझे अपने जीवन में प्रेरणा मिली तो अचानक, तिब्बती मन्त्रजाप के यंत्र की ही भांति, स्मृतिचक्र गोल–गोल घूमने लगता है। कितने ही सौम्य, गम्भीर, हंसमुख और कठोर चेहरे, एक के बाद एक, घूमते चले जाते हैं। शान्तिनिकेतन की सम्पूर्ण गुरुपल्ली, किसी उदार महाजन की भांति, बिना कर्ज चुकाने का तकाजा किए सम्मुख खड़ी हो जाती है।

परम श्रद्धेय गुरुदेव का मैंने प्रथम दर्शन सन् 1935 में किया। स्फटिक–सा गौर वर्ण, ज्वलन्त ज्योति–से जगमगाते विशाल नयन, गोरे ललाट पर चन्दन का शुभ्र तिलक, काला झब्बा और काली टोपी। यही थे आश्रमवासियों के हृदय–हार गुरुदेव। कितना महान् व्यक्तित्व और कैसा सरल व्यवहार। ऊंच–नीच, छोटे–बड़े सब उनके स्निग्ध व्यक्तित्व की छाया के नीचे समान थे। चीन, जापान, मद्रास, लंका के छात्र प्रार्थना की घण्टी बजते ही, एक कतार में लायब्रेरी के सामने सिर झुकाकर खड़े हो जाते। उनमें चीनी बौद्ध छात्रा फाँचू रहती और सुमात्रा का मुस्लिम छात्र खैरुद्दीन भी, गुजरात की सुशीला रहती और सुदूर केरलवासिनी कुमुदिनी भी। एकमन–एकप्राण होकर सब उपासना में लीन रहते। कभी कोई अनुशासन भंग करने की धृष्टता न करता। आश्रम के इस संयमित वातावरण का रहस्य था स्वयं गुरुदेव का स्नेहपूर्ण संचालन। मैं तब पाठ–भवन की छात्रा बनकर आश्रम गई थी। तत्कालीन प्रिन्सिपल डॉ॰ धीरेन्द्रमोहन सेन हम दोनों

बहनों को 'उत्तरायण' ले गए। गुरुदेव 'श्यामली' में बैठे कुछ लिख रहे थे। संध्या घनीभूत हो गई थी और वीरभूमि की उसी लोहितवर्णी साँझ के धुंधलके में मुझे उन आलौकिक महापुरुष के प्रथम दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। हमने प्रणाम किया। सिर पर हाथ धरकर उन्होंने हंसते हुए पूछा, 'क्यों, बहुत घबरा रही हो क्या ? बांग्ला सीख लोगी तो फिर कभी घर की याद नहीं आएगी। रुको, पूपे से तुम्हारा परिचय करा दें--वनमाली !" उन्होंने अपने प्रिय भृत्य वनमाली को हांक लगाई, "पूपे, दीदी को बुला लाओ।"

और फिर अपनी दोनों पौत्रियों से उन्होंने हमारा परिचय ही नहीं कराया, अपने साथ खाना खिलाने के लिए भी रोक लिया। 'उत्तरायण' की उसी खाने की मेज पर फिर उन्होंने हमें वोठान प्रतिमा देवी से मिलाकर कहा, "ये लड़कियां बड़ी दूर से आई हैं। बांग्ला नहीं जानतीं, इसी से शायद कुछ घबरा रही हैं। इन्हें आज रिहर्सल भी दिखा देना, मन बहल जाएगा।" उन दिनों वहां 'वर्षामंगल' की रिहर्सल चल रही थी। पूरे 'उत्तरायण' की परिक्रमा कर नन्दिता कृपलानी जिनका पुकारने का नाम 'बूढ़ी' था, हमें रिहर्सल दिखाने ले गईं। कलात्मक सज्जा में सँवरे 'उत्तरायण' का वह सबसे हवादार कमरा था। चारों ओर बड़ी–बड़ी खिड़कियों के पारदर्शी चमकते शीशों के बीच, गुरुदेव के बाग की अनुपम इन्द्रधनुषी पुष्पछटा किसी पेस्टल के बने मनोहारी चित्र–सी आखों को बांध लेती। एक ओर कुमायूँ की चमचमाती गगरियां एक के ऊपर एक सन्तुलन साधती, यत्न से सतर खड़ी थीं। कुछ ही दूरी पर एक चौड़ा–सा जामदानी तखत लगा था। उस गावतकिया और काली बर्मी गद्दियों के सहारे स्वयं गुरुदेव बैठे निर्देशन कर रहे थे। उन्हीं से सटकर नीचे शैलजारंजन मजुमदार, शान्तिमय घोष, शिशिर दा, सन्तोष दा और आश्रम के गायक–गायिकाओं का दल बिखरा था। देखते–ही–देखते चिकने

फर्श पर नृत्यरता निवेदिता दी के घुंघरुओं की झनक ने, हमारा अवसाद पल–भर में धो–पोंछकर बहा दिया–

'हृदय आमार नाची रे आजीके
मयूरेर मत नाची रे
शतबरनेर भव उच्छास, कलापीर मत
करीछे विकास–
आकुल परान आकाशे चाहिया
उल्लासे कारे जाचि रे–

दीर्घांगी निवेदिता दी की सांचे में ढली देह शैलज दा, शान्ति दा के गुरु–गम्भीर कण्ठ–स्वरों के बीच छलकती, कनिका के मिश्री घुले कण्ठ की मिठास, अमिता दी की दिव्य स्वर–लहरी की मौलिक गूंज और बीच–बीच में सुशील दा के सितार की झनकार, जो दर्शकों की हृत्तन्त्री के तारों को भी झंकृत करती चली जाती थी। यत्न से संवारे गए बड़े–बड़े बाल, कर्णमूल तक ढतर आए काकपक्ष, बन्द आंखें और झुककर सितार से एकदम सटी गरदन। पता नहीं, आज कला का वह मौन विस्मृत साधक कहां है। आश्रम की कोई भी संगीत–सभा, क्या तब उनके बिना सार्थक हो सकती थी ? एक बार वे लम्बी पतली अंगुलियां तारों पर फिसलतीं तो श्रोता मन्त्रमुग्ध होकर झूमने लगते। जिन्होंने उनके द्वारा सितार पर प्रस्तुत, गुरुदेव का अनुपम गीत–

मोर भावनारे की हावा
मातालो–
दोले मन दोले
अकारण हरषे !

सुना है, वह जीवन–भर उन मौलिक मीड़ों को, उस कर्णप्रिय झाला की मधुर झंकार को कभी भूल नहीं सकते। अब, कभी–कभी वैसी ही परिचित मीठी झंकार से, मिर्जा हलीम जाफर सहसा सुशील

दा का स्मरण दिला देते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कुछ अंगुलियां, मां के गर्भ से ही अदृश्य मिजराब पहनकर, पृथ्वी पर अवतरित होती हैं। सुशील दा निश्चय ही उनमें से एक थे। धीरे–धीरे मैंने बांग्ला सीख ली और बांग्ला सीखने का वह आनन्द, केवल मेरा आनन्द नहीं रहा। आज मुझे यह लिखते गर्वबोध ही होता है कि मेरी बांग्ला वर्णमाला का अक्षरारम्भ कराया था स्वयं गुरुदेव ने। और जब उन्हीं की दी गई 'सहज–पाठ' के पाठ, 'बने थाके बाघ, गाछे थाके पाखी' (अर्थात्, वन में बाघ और पेड़ों पर पक्षी रहते हैं) को, उन्हें सुनाने के महाउत्साह में 'गाछे थाके बाघ, बने थाके पाखी' सुना गई तो गुरुदेव के ही पास बैठे, प्रसिद्ध उपन्यासकार चारुबाबू की स्थूल देह सरल हंसी की तरंगों से दोलायमान हो उठी। पर मैं फिर भी नहीं समझी। सहसा, मन्दस्मित से गुरुदेव का चेहरा उद्भासित हो उठा–"की रे, तोदेर देशे, बुझी गाछे बाघ थाके ?" (क्यों री, तेरे देश में क्या पेड़ों पर बाघ बसते हैं ?) उन्होंने पूछा तो मैं कटकर रह गई।

इसी प्रसंग में, मुझे एक घटना स्मरण हो आती है। हम दोनों बहनों ने बंग्ला खूब अच्छी तरह सीख ली थी। फिर रमेश दा के, जिनकी दीर्घशिखा के कारण उन्हें 'पण्डित मोशाय' की उपाधि दी गई थी, कठोर अनुशासन ने, मेरी बंग्ला को और भी घिसमांजकर चमका दिया था। किन्तु बार–बार कहे जाने पर भी, आश्रम के ही शिक्षाभवन के छात्र, मेरे अग्रज त्रिभुवन, न बंग्ला बोलते थे, न सीखने की चेष्टा करते थे। गुरुदेव ने, एक दिन उन्हें हमारी ही उपस्थिति में खूब आड़े हाथों लिया–

"की रे त्रिभुवन, तीर बोनेरा ऐतो भालो बंग्ला बोले आर तुई तोर इंग्रेजी छाड़बी ना ? आज येके तोके बंग्ला बलतेई हबे" (क्यों रे त्रिभुवन तेरी बहनें इतनी अच्छी बंग्ला बोलती हैं और तू अपनी अंग्रेजी नहीं छोड़ता। आज से तुझे बंग्ला बोलनी ही होगी।)

उनके आदेश को सिर–आंखों पर साधे, मेरे बड़े भाई ने, अपनी नौसिखी बंग्ला का, पहला हथगोला फेंका था भोजनालय में। आश्रम के रसोइया हरिहर प्रभाकर का हम अबंगाली छात्र–छात्राओं पर विशेष स्नेह था। 'आहा ! कौर विदेश थेके ऐशेछे दीदीमनीरा !'' (कितनी दूर से आई हैं ये दीदीमनी)। और बंगाली छात्र–छात्राओं की अनुसन्धानी दृष्टि बचा, कभी एक और अण्डा हमारी थालियों में डाल जाते या स्वादिष्ट रोहू मछली का मुण्डा। उन दिनों भी मछली ही बनी थी। बंग्ला बोलने के उत्साह में मेरे भाई ने एक प्रकार से चीखकर ही अपनी दिक्‌दिगन्त भेदी हांक लगाई थी–

''हरिहर प्रभाकर, आज के आमके माछ खाबे'' (हरिहर प्रभाकर, आज मुझे मछली खाएगी)। बेचारा कहना चाहता था, आज आमी माछ खाबो।

पूरा भोजनालय ठहाकों से गूंज उठा था। दूसरे दिन, जब गुरुदेव को किसी ने यह घटना सुनाई तो उन्होंने उसी दिन, शिक्षा–भवन की, एक साहित्य–सभा में मेरे भाई को बुलाकर कहा–

''थाक त्रिभुवन, तोके आर बंग्ला ओ सीखते हबे ना, आर तोके माछ ओ खाबे न !'' (रहने दे त्रिभुवन, न तुझे बंग्ला सीखनी होगी न तुझे मछली ही खाएगी)।

उन दिनों 'उत्तरायण' में प्रत्येक वर्ष एक साहित्य–सभा का आयोजन होता था, जब बांग्ला के मूर्द्धन्य साहित्यकार वहां आते और हमारे लिए उस साहित्य–गोष्ठी का महत्त्व, कुम्भ मेले से कुछ कम नहीं रहता। आश्रम तीर्थ हमें अपने उस अपूर्व संगम–तट की ओर खींचने लगता और प्रसिद्ध साहित्यकारों के हस्ताक्षर जुटाने में हम जी–जान से जुट जातीं। मेरे पास आज भी श्री जलधर सेन, चारुबाबू, नरेन्द्र मिश्र, सजनोकान्त दास आदि की

लिखित ऐसी ही दुर्लभ पंक्तियां संगृहीत हैं। उसी गोष्ठी में एक बार गुरुदेव ने, मुझसे अपनी प्रसिद्ध कविता–

संन्यासी उपगुप्त
मथुरा नगरीर प्राचीरेर तले
एहदा छिलेन सुप्त

की आवृत्ति कराई थी। यहीं नहीं, मैं उनकी एक कुमाऊंनी, अबंगाली छात्र होने पर भी त्रुटिहीन उच्चारण में, बंग्ला कविता की स्पष्ट आवृत्ति कर सकती हूं–ऐसा कुछ उदार परिचय भी उन्होंने दिया था। पुरस्कार स्वरूप देखते–ही–देखते, मेरी हस्ताक्षर–पुस्तिका एक–से–एक दुर्लभ कविताओं से भरकर पूरे आश्रम के छात्र–छात्राओं की ईर्ष्या का विषय बन गई थी। अधिकांश कवियों ने मेरे नाम को लेकर ही सुन्दर पंक्तियां लिख दी थीं। उनमें से एक के उद्धरण का लोभ मैं आज भी संवरण नहीं पा रही हूँ

हिमालयेर कन्या तूमी गौरीर मतन
नोरबे फुटिओ हांसी फूलेक जैमन
सकलेर भालो बेशे करो आपनार
शान्तिर निर्झर झरे
जीवने तोमर

(तुम हिमालय की कन्या गौरी–सी हो। फूल की नीवर हंसी–सी तुम प्रस्फुटित होती रहो। सब को प्यार कर अपना बनाओ और ईश्वर करे, शान्ति–निर्झर तुम्हारे जीवन में बहता रहे।)

'ईदगाह' के चिमटे की भांति, मैं अब अपनी उस हस्ताक्षर पुस्तिका की सहपाठियों को एक–से–एक मूल्यवान, निधियों से बदल सकती थी। एक ने तो मुझे अपना बहुमूल्य टिकट–ऐलबम देकर, श्री जलधर सेन के हस्ताक्षर लेने की इच्छा प्रकट की थी।

श्री जलधर सेन तब बहुत ही बूढ़े हो चले थे और सहज ही अपने हस्ताक्षर देते भी नहीं थे। उसी दिन गुरुदेव ने स्वयं उस पुस्तिका के प्रथम पृष्ठ पर, आश्रम के जापानी छात्र माकी की पेन्सिल से रेखाचित्र अंकित कर मुझे मेरे जीवन का सबसे बड़ा साहित्यिक पुरस्कार दिया था, जो आज भी एक अमूल्य निधि के रूप में मेरे पास सुरक्षित है।

अपने आश्रमकालीन जीवन की एक अत्यन्त रोचक घटना का मुझे बार–बार स्मरण हो आता है। उन दिनों आश्रम भोजनालय ने हम निरीह छात्र–छात्राओं पर, अकारण ही 'आलू–पलट' की गोलाबरी आरम्भ कर दी थी। लगता था भोजनालय के कर्मचारियों ने, कहीं से थोक में सस्ते भाव पर मनों आलू–परवल एक साथ खरीदकर, गोदाम में भर लिया है। नाश्ते में परवल भाजा, दोपहर के खाने में 'एटलेर दोलमा', रात को 'पटलेर झोल' यहां तक कि बंगला की ईलिश मागुर जैसी स्वादिष्ट मछलियां भी परवल के साथ ही परिवेष्टित होने लगीं। कुछ दिनों तक हम सहते रहे, किन्तु उन दिनों आश्रम में त्रिपुरा, कूचबिहार के राजपरिवार की ही नहीं, सुदूर वर्मा, जावा, सुवर्णनगरी सीलोन के भी कुछ अत्यन्त समृद्ध परिवारों की छात्र–छात्राएं थीं। पहले तो मौन आन्दोलन चला। आश्रम वाचनालय के सम्मुख एक विराट् श्यामपट्ट था, जिस पर आश्रम के महत्त्वपूर्ण कार्यक्रमों की सूचनाएं अंकित की जाती थीं। उन सब को एक ही रात के अंधेरे में धोपोंछ, मिटाकर कला–भवन की कुशल शिल्पी तूलिकाओं ने गजब ढा लिया। आलू–परवल के आदमकद चित्र बना, सिर काट, 'धिक आलू–धिक परवल' लिख दिया; किन्तु आश्रम अधिकारियों के कानों पर जूं भी नही रेंगी।

तत्कालीन कर्मसचिव श्री सुरेन कर के पास हमारा एक प्रतिनिधि मण्डल भी पहुंचा; किन्तु अल्पभाषी सौम्यदर्शी सुरेन दा

मूंछों–ही–मूंछों से मुस्कराते, हमारा उपालम्भ बुहारते चले गए। "तुम आश्रम की छात्राएं हो, सरल खानपान और उच्च विचार ही तुम्हारा ध्येय होना चाहिए।" "किन्तु, सरल खानपान का मतलब यह तो नहीं है कि खाने की जगह भी आलू खाए–पिए जाएं।"—हमने तुनककर कहा, किन्तु सुरेन दा क्या कभी व्यर्थ की बहस में, अपना समय नष्ट कर सकते थे ? एक दिन, फिर विचार–विमर्श हुआ। इस बार हम गुरुदेव के पास गए। तब श्यामली टूट चुकी थी और गुरुदेव अपने नए निवासस्थान 'पुनश्च' में थे। हम पहुंचे तो बाहर ही बैठकर कुछ लिख रहे थे। उनके पैरों के पास बैठे थे उनके मुंहलगे प्रियपात्र आलू दा। अपने गोलमटोल चेहरे की वैशिष्ट्यहीन गठन, कांच की गोलियों–सी चमकती सदाबहार आंखें, विरले केशों के कारण आलू दा दूर से ही पहचाने जाते थे। हमें देखते ही उनकी आंखें चमकने लगीं। वे शायद समझ गए कि निश्चय ही हम कोई शिकायत लेकर आए हैं। आलू दा, उन दिनों एक प्रकार से गुरुदेव के निजी सचिव के रूप में, दिन–रात उनके साथ छाया की भांति रहते थे। यही नहीं, आश्रम की नाट्य संस्कृति के वे सुपरिचित, सुप्रतिष्ठित स्तम्भ थे। ऐसा जन्म जात कुशल अभिनेता और ऐसी प्रत्युत्पन्न मति का व्यक्ति सचमुच ही अब कहीं मिलना दुर्लभ है। उनके पास एक मौलिक चुटकुलों का अवशेष कोष रहता, हंसी की फुलझड़ी छोड़कर, वे स्वयं एक कोने में गंभीर मुखमुद्रा बनाकर खड़े हो जाते। जिन्होंने 'ताशेर देश' में उनका ऐसा ही अभिनय देखा है, वे शायद आज भी उन्हें नहीं भूल पाए होंगे।

गुरुदेव ने हमें स्नेह से बिठाया, नित्य की भांति, अपने प्रिय भृत्य वनमाली को कांच की बर्नी लाने का आदेश दिया। हममें से प्रत्येक को एक–एक टॉफी मिली, फिर आने का कारण पूछा: 'कहो, कैसे आई हो ? किसी साहित्य–सभा का सभापतित्व कराने या फिर तुम्हारे किसी धोबी की अंगुली में सुई चुभ गई है ?"

कुछ ही दिन पूर्व, हमारे छात्रावास की धोबी की अंगुली में, किसी छात्रा की असावधानी से रूमाल में घोंपी गई सुई चुभ गई थी और हम सब छात्राओं को इधर–उधर घूमघाम, चन्दा एकत्रित कर, उसे इलाज के लिए कलकत्ता अस्पताल भेजना पड़ा था। चन्दे की सबसे उदार राशि दी थी स्वयं गुरुदेव ने। इसी से उनके उस प्रश्न ने हमें पल भर के लिए खिसियाकर मूक कर दिया। फिर साहस कर मैंने ही अपनी संकटगाथा की भूमिका बांधी–

"जैसे भी हो, हमें आलू परवल से मुक्ति दिलाइए।"

एक तो हम उत्तरप्रदेशीय छात्र–छात्राओं का वैसा ही बुरा हाल था। अरहर की दाल और बैंगन को तरसते प्राण कण्ठागत थे, उस पर आलू परवल की खटमिट्ठी सब्जी! "आज निरन्तर एक महीने से हमें केवल आलू परवल मिल रहा है। जिस सब्जी में देखिए आलू, आलू और आलू!"–हमने कहा।

अचानक, आलू दा धोती का कोंचा संभालते उठे। टप से गुरुदेव को प्रणाम किया और जाने लगे।

"कैनों, तुई चललो कौथाय?" (क्यों, तुम कहां चल दिए?) गुरुदेव ने पूछा। उस जन्म जात अभिनेता की आंखें ही अश्रुसिक्त नहीं हुईं, दो बड़ी–बड़ी बूंदों से फूले गाल सिंचित कर, उन्होंने रुंधे गले से कहा, "आज्ञे, देखछेन तो आमी की आर पारी थाकते? पटल के निए एई चललाम आश्रम थेके।" (महाराज, देख तो रहे हैं! अब क्या रह सकता हूं? परवल को लेकर मैं यह चला आश्रम से!)।

हमारी नालिश, स्वयं हमारे ही ठहाकों में बह गई। हाथ पकड़कर हमने आलू दा से क्षमा मांग, आदरपूर्वक उन्हें अपने बीच बिठा लिया। पटल दा, आलू दा के ही छोटे भाई थे। वर्षों पूर्व इनका मस्तिष्क विकृत हो गया था और एक बुझी लालटेन लिए वे आधी रात को, एक विचित्र हुंकार भरते पूरे आश्रम की परिक्रमा

करते रहते। हमारा प्रतिनिधि–मण्डल अपने सारे उपालम्भ कण्ठ ही में घुटककर लौट आया। किन्तु उस दिन, पहली बार रात के खाने में ढूंढ़ने पर भी अपनी थालियों में, हमें न आलू मिला, न परवल!

विश्वविभूति कवीन्द्र रवीन्द्र थे संगीत, साहित्य और दर्शन के विचित्ररूपी शिल्पी, किन्तु आश्रमवासियों के थे वे गुरुदेव, स्नेही पितामह। कविता, नाटक, उपन्यास, चित्रकला, संगीत, नाटक–परिचालन–इन सबसे भी अधिक चिन्ता थी उन्हें अपने प्रिय आश्रम की। कौन सोच सकता है कि आज जिनकी यशःपताका दिग्–दिगन्त में फहरा रही है, उन्होंने कभी अपने नादान छात्र–छात्राओं का आलू–परवल का सामान्य झगड़ा भी निबटाया होगा!

गुरुदेव की कर्मभूमि

विश्वभारती थी उनकी प्रिय कर्मभूमि। छोटे–बड़े का भेद वहां की पावन रांगामाटी में घुल–मिलकर एक हो जाता था। त्रिपुरा के राजकुमार और कूचबिहार की राजकन्या भी सब के साथ काठ की बेंच पर बैठकर खाना खाते और अपने–अपने आसन लेकर पेड़ों की सुशीतल छाया तले, परम उल्लास से पढ़ने बैठ जाते।

बालक रवीन्द्रनाथ, जब 'बंगाल अकादमी' में शिक्षा प्राप्त करने गए तो उन्हें अपना स्कूल, कारागार–सा लगा। उन्होंने उसी के विषय में, एक स्थान पर लिखा है—''जो हमें पढ़ाया जाता, कभी हमारी समझ में नहीं आता, न हम सीखने की चेष्टा करते और न स्कूल–अधिकारियों को ही हमारे न सीखने की चिन्ता रहती। अब मेरा स्वयं एक आश्रम है। वहां के बच्चे भी शैतानियां करते हैं, पर वे बालक हैं न! नटखट तो होंगे ही। और अध्यापक? वे भी बहुत क्षमाशील नहीं होंगे, किन्तु जब कभी मेरे आश्रम के विद्यार्थी ऐसी कुछ शैतानियां कर, दण्ड देने के लिए प्रेरित करते हैं, तभी मुझे अपनी स्कूली जीवन में की गई शैतानियां स्मरण हो आती हैं।''

यही कारण था कि कभी भी आश्रम के किसी छात्र एवं छात्रा को कड़ी सजा नहीं मिलती थी। अपने आठ वर्षीय आश्रमकालीन जीवन में मुझे केवल एक छात्र और छात्रा को आश्रम छोड़कर चले जाने का कठोर दण्ड मिलने का स्मरण है। आश्रम के किसी

भी पाठ–भवन (स्कूल) के छात्र या छात्रा पर हाथ न उठाया जाए, यह गुरुदेव का आदेश था, किन्तु इस आदेश को कभी–कभी अध्यापकगण लांघ जाते थे। विजन, मन्टू घोष जैसे शैतान लड़कों को, कभी–कभी 'ढोल गंवार शूद्र पशु नारी' की श्रेणी में सम्मिलित कर लिया जाता था, किन्तु गुरुतर अपराध करने पर ही उन्हें ऐसा दुर्भाग्य प्राप्त होता। ठीक से काम न करने पर या माने याद करके न लाने पर एक कोने में खड़ा कर दिया जाता, पर कोने में मुंह लटकाए खड़े हैं और पास के पेड़ों के नीचे लगी अन्य कक्षाओं के छात्र–छात्राएं देख रह हैं यही क्या कम सजा है? दूसरी कक्षाओं के छात्रवृन्द की दृष्टि की छुरियां पैनी की जा रही हैं कि कक्षा छूटते ही ताने कसे जाएंगे, खिल्ली उड़ाई जाएगी। और अभी–अभी रसोइया प्रभाकर वहीं से होकर निकल गया। मुंह फेरकर हंस रहा था, वह जाकर सब नौकरों से कहेगा और सब पूछेंगे, 'क्यों दीदीमनी, आज कैसी सजा पाकर खड़ी थी? अपने बाल्यकाल के स्कूली जीवन में शिक्षा–संस्थाओं के यांत्रिक रूप की शिक्षा–प्रणाली में जिन–जिन छोटी–मोटी त्रुटियों को गुरुदेव ने देखा था, उन्हें अपने आश्रम में, उन्होंने किसी रूप में नहीं रहने दिया था। यहां किसी भी विषय को लेने की पूर्ण स्वतंत्रता थी। संगीत–भवन की कोई भी छात्रा शिक्षा–भवन (कॉलेज) की किसी भी कक्षा में आकर पढ़ सकती थी। बालकों के कोमल हृदयों को, किताबी बेड़ियों में जकड़ा नहीं जाता था। पुस्तकें भी बड़ी रोचक, तस्वीरों से भरी, मुलायम जिल्द और मखमली पन्नेदार होती थीं। बच्चे ऐसे प्रेम से पुस्तकें खोलकर बैठ जाते, जैसे परीक्षा की पुस्तकें नहीं, मिठाई का डिब्बा हो। शिशु–भवन के नन्हे छात्रों की एक घण्टी लगती 'गल्पेर क्लास' (कहानी का घण्टा)। जब कभी पता लगता कि आज उनका यह 'वर्ग' श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर लेंगे तो बड़े–बूढ़ों की भीड़ जुट जाती। ग्रिम्स और हैन्स ऐण्डरसन की कलम का जादू फीका पड़ जाता! मैंने भी उसी

कक्षा में, एक बार उनसे 'मोमेर पुतुल' (मोम की गुड़िया) की कहानी सुनी थी। एक के बाद एक कर तीन पीरियड निकल गए और हम सब, मन्त्रमुग्ध खड़े वह अनूठी कहानी सुनते रहे थे। कैसी सजीव कल्पना थी और कैसी लच्छेदार भाषा !

'सिन्हा सदन' के सामने बिखरी ऐसी ही असंख्य कक्षाएं—कहीं ढीला खद्दर का कुरता पहने, ऊंची धोती के ऊपर अण्डी की चादर लपेटे, हिन्दी का वर्ग ले रहे हैं आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, कहीं शेक्सपियर के नाटकों की विद्वत्तापूर्ण व्याख्या कर रहे जर्मन प्रोफेसर डॉ॰ ऐलेक्स ऐरनसन, मार्जोरी साइक्स; कहीं सांख्य योग और चार्वाक् की चर्चा कर रहे हैं प्रोफेसर अधिकारी और कहीं, शैलज दा के इसराज के मधुर स्वरों के बीच गूंज रही है रवीन्द्र संगीत की कोई नई स्वर—लिपि। आज बांग्लादेश का लोकप्रिय गीत 'आमार सोनार बांग्ला आमी तोमाय भालोबाशी' जब आश्रमवासियों के स्निग्ध कण्ठस्वरों से पहली बार गूंजा था तब उसकी मौलिक गूंज ही अनूठी थी।

'सिन्हा सदन' में आयोजित एक जलसे में, स्वयं (शान्तिमय घोष) शान्ति दा, बाउल की अनुपम सज्जा में जब नाच—नाचकर गाने लगे थे—'आमार सोनार बांग्ला, आमी तोमाय भालोबाशी, दर्शकों के पैर जैसे स्वयं ही किन्हीं हिप्नोटाइड माध्यमों की भांति, ताल देने लगे थे। ऐसे ही, एक बार जब द्वितीय युद्ध—विभीषिका ने भारत को भी त्रस्त कर दिया था, कलकत्ते में गिराए गए इक्के—दुक्के जापानी बमों ने आश्रम की शांति भी कुछ अंश में, भंग कर दी थी, गुरुदेव का नया गीत हिंसाय उन्मत्त पृथ्वी, नित्य निठुर द्वन्द्व, मीठी शीतल बयार का बिजना डुला गया था। सचमुच ही, शान्तिनिकेतन गुरुदेव की पवित्र तपोभूमि का साकार स्वप्न था। न वहां चहारदीवारियों से घिरी कक्षाएं थीं न किसी छत का अंकुश। जहां तक दृष्टि जाय, उन्मुक्त नील गगन था।

पढ़ते—पढ़ते जी ऊबता तो आसमान पर चहकते परिन्दों को देखने की बन्दिश नहीं थी; लिखते—लिखते हाथ थक जाते तो क्षण—भर कलम रखकर पास से गुजरते सन्थाल—दल के अगुवा की दो—गजी मादक वंशी के स्वर को सुनने पर कोई बंदिश नहीं थी; रेखागणित और बीजगणित के कठिन साध्यों के बीच इधर—उधर देखकर ताजगी पाने पर कोई रुकावट नहीं थी; सामने की डाल पर कबूतर बैठे हैं या गिलहरी कुटुर—कुटुर कर कुछ खा रही है, यह सब देखते—देखते भी विद्यार्थी पानीपत के तीनों युद्धों की दुरूह तारीखें कण्ठस्थ कर लेते थे। अकबर की धार्मिक नीति या विलियम बैण्टिक के शासनकालीन सुधारों का गुरुतर बोझ, आश्रम के दो छात्रों के कन्धों पर भी उतना ही था, जितना अन्य शिक्षणसंस्थाओं के छात्रों पर, किन्तु पढ़ने—पढ़ाने की ऐसी मौलिक व्यवस्था थी कि नन्हे मस्तिष्कों पर स्कूली पढ़ाई, कभी भी बोझ बनकर नहीं उतरी। आत्मसंयम, उनको आश्चर्यजनक रूप से सचेत बनाए रखता।

आश्रम के छात्र—छात्राओं को सूर्य निकलने से पूर्व ही बिस्तर छोड़ देना पड़ता था। इसके लिए तीन घण्टियां बजतीं। तीसरी घण्टी बजने पर भी यदि कोई नहीं उठता, तो सजा मिलती। प्रातःकालीन नाश्ता किए बिना ही फिर उसे कक्षा में जाना पड़ता। नहा—धोकर अपना बिस्तर लगाकर, सब लायब्रेरी के सामने खड़े होकर एक प्रार्थना करते। पन्द्रह मिनट सुबह और पन्द्रह मिनट शाम, नित्य यह प्रार्थना—सभा होती। प्रार्थना के भी कई गीत विशेष रूप से इसी सभा के लिए, 'विभास,' 'भैरवी,' 'भैरव' में बांधे गए थे। 'भेगे छो दुआर एशेछो ज्योतिर्मय,' ओ अनाथेर नाथ,' 'बाहिर पथे विरागीहिया किशेर खोंजे ऐली' आदि वैतालिक गीतों के आरोह के लिए, मांसल कण्ठों के विशिष्ट गायक नियुक्त थे। कुण्डामुण्डी रेड्डी, जगद्बन्धु अमिता दी ही प्रायः वैतालिक का संचालन करते। रेड्डी दा जब 'तोमारी होक जय' गाते तो लगता

एक साथ बीसियों बादल गरज उठे हैं। ऐसे ही जगत्बन्धु के गुरुगम्भीर कण्ठ–स्वर में कहीं भी उसके कैशोर्य की झनकार नहीं रहती, उस छोटे से शरीर में न जाने विधाता ने कहां कौन–सा अदृश्य माइक फिट कर रख दिया था। प्रातःकालीन प्रार्थना के पश्चात् सब अपनी–अपनी कक्षाओं में चले जाते। कला–भवन के छात्र एवं छात्राएं कला–भवन की ओर और संगीत–भवन का दल अपनी कक्षाओं में। शिक्षा एवं पाठ–भवन के दल यत्र–तत्र पेड़ों के तले बिखर जाते और क्षण–भर में कोलाहल शान्त हो जाता। घण्टा फिर बजता और कक्षाओं में पढ़ाई होने लगती।

शान्तिनिकेतन की गुरुपल्ली

आश्रम के खेल के मैदान से, एक लाल सड़क से विभक्त दूसरा धूलि–धूसरित मैदान था और उसी से लगी थी गुरुपल्ली। एक ही कतार में, ताड़–खजूर और मालती लता के साये में खड़े, प्रायः एक ही नक्शे के बने, कच्ची मिट्टी के खपरैल से छाए मकान, जिनकी भीतरी सरल सज्जा और रहनेवालों के स्नेहसिक्त सरल चेहरों और वेश–भूषा में आश्चर्यजनक रूप से साम्य रहता। एक ही से कतार में बिछे लकड़ी के तखत, परिपाटी से तहाकर रखा गया पूरे परिवार का बिस्तर, कोने में मोटी–मोटी पुस्तकों का स्तूपाकार गट्ठर और भीतर के आंगन में, बड़ी–सी 'बटी' से रोहू या हिलसा 'झाल माछ' की सरस भूमिका की सृष्टि करतीं गुरुपल्लियां।

'ऐशो ऐशो मां' कह चट से पीढ़ा डाल, कभी 'कूलेर आचार' (बेर का अचार), कभी खजूर का सन्थाली गुड़ और कभी खीर के बने सन्देश खिलानेवाली, कितनी ही स्नेही गुरुपत्नियों के सरल घरेलू चेहरे, आज स्मृतिपटल पर उभर आते हैं।

जहां तक मुझे स्मरण है, सन्' 35 तक गुरुपल्ली के ओर–छोर पर बने तीन–चार ही मकान तब पक्के थे। आश्रम–पोखर से सटी गुरुदेव के तत्कालीन सचिव, डॉ॰ धीरेन्द्रमोहन सेन की, बहुत बड़ा अहाता घेरे, लाल दर्शनीय हवेली और 'गुरुपल्ली' के सीमान्त पर खड़ी अपने नाम को सार्थक करती श्री ललितमोहन की सीमान्तिका।'

आश्रम के इसी पोखर में, जहां हमारी सहपाठिनी बंगछात्राएं, मछली की सहज स्वाभाविकता से तैरती, सर्र से पानी के बुलबुले उठाती, पल–भर में अतल गहराई में जलपरी बनी अदृश्य हो जातीं और फिर हंसती–खिलखिलाती, दूसरे छोर से प्रकट हो, दर्शकों का मन मोह लेतीं, वहीं पर हम उत्तरप्रदेशीय, सिंहल–द्वीपी, पंजाबी और सिंधी–गुजराती छात्राओं को, तैराकी की शिक्षा देने में, आश्रम के कुशल तैराक अध्यापक, जीवन दा को कभी–कभी कठिन परिश्रम करना पड़ता। किनारे की ही रस्सी पकड़े, हम अपनी क्षीण प्रगति से परम संतुष्ट बनी वहीं पर हाथ–पैर मारती रहतीं और तभी अचानक पैंग्विन पक्षी की भांति, जीवन दा बड़ी क्रूरता से हमें बीच पोखर में पकड़कर, छोड़ देते। खूब नाक–मुंह से पानी पीती लड़कियां, अनायास ही तैरना सीख जातीं। कभी–कभी इस पोखर में कलकत्ते से आए कुशल तैराक भी अपनी कला का प्रदर्शन करते। उस दिन तो पोखर की छटा ही निराली रहती। एक ओर छात्राओं की रंग–बिरंगी भीड़, दूसरी ओर अध्यापक एवं छात्र 'साधु–साधु' के रव से तैराकों को प्रोत्साहित करते। आश्रम में तालियां बजाना सर्वथा निषिद्ध था। हमारे अधिकांश अध्यापक 'गुरुपल्ली' के ही मकानों में रहते थे। पहला मकान दो भागों में विभक्त था। एक भाग में बड़े पण्डितजी (आचार्य श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी) रहते थे और दूसरे में गोसाईंजी। उसी मकान में गोसाईंजी के होनहार युवा पुत्र वीरेन दा की भी मृत्यु हुई थी। पास ही सटे, अपने निजी पक्के मकान में श्री सरोजरंजन चौधरी रहते थे, उन्हीं के संरक्षण में 'श्रीभवन' छात्रावास की उन छात्राओं को सिउड़ी की 'दुर्गापूजा' देखने को भेजा जाता था, जिनका पूजा की छुट्टियों में उत्तर प्रदेश जाना सम्भव नहीं होता। गोलगाल गोरे हंसमुख सरोज दा की सुन्दरी पत्नी 'माशी मां' हमें अपनी मोटर में स्वयं ले जातीं। उस सुन्दरी तेजस्वी महिला का आज भी एक–एक तीखा नैन–नक्श मुझे

कण्ठस्थ है। गोरे लम्बोतरे चेहरे पर प्रलम्ब पलकों का साया, गोंद से चिपकायी–सी कटी–कटी केशपत्तियां, सिन्दूर की गाढ़ी रेखा से विभक्त सुचिक्कन केशराशि से उठती 'लक्ष्मी विलास' तैल की मन्द–मदिर सुगन्ध और पान दोख्ते से लाल अधर। मेले में दुर्गा की विशाल प्रतिमा के दर्शन करा, सरोज बाबू हमें यात्रा–नाटक दिखा, संध्या होने से पूर्व ही मोटर में बिठाकर फिर छात्रावास पहुंचा जाते। बड़े पण्डितजी के यहां तो हम उत्तरप्रदेशीय छात्राओं का अड्डा ही था। भूख लगी तो चल दीं। वहीं पुस्तकों से घिरा पण्डितजी का छोटा–सा कमरा पार कर पत्थर का पटा आंगन था और उसी से लगी भाभीजी की छोटी–सी रसोई। कभी भी समय–असमय हमारा आक्रमण, निरीह भाभीजी की रसोई पर होता और वे सदा अपनी स्निग्ध हंसी से हमारा स्वागत करतीं। उनके मुंह से, ठेठ बिहारी लहजे में लिए गए नाम 'गउरा' की मिठास भुलाए नहीं भूलती। गोरी, बूटे–सी कद की आनन्दी भाभीजी कभी मूड़ी का पूरा कनस्तर ही उतारकर हमारे सामने रख देतीं। सरसों के तेल में सनी, हरी मिर्च और कतरे प्याज से संवरी वह लैया सुरदुर्लभ पदार्थ लगती और देखते–ही–देखते पूरा कनस्तर साफ हो जाता। बड़े पण्डितजी की कक्षा में, तब हम चार–पांच लड़कियां और दो–तीन छात्र थे। लम्बे कद के पण्डितजी ढीला कुरता–धोती पहने और एक इलायची रंग की अण्डी की चादर ओढ़े, लम्बे–लम्बे हाथ हिलाते दूर ही से पहचाने जाते थे। उनका पढ़ाने का ढंग ही अनूठा था। कभी–कभी अपने कट्टर गुरुजी की कहानियां सुनाते और कभी सामान्य–सी बूंदाबांदी होने पर ही 'भीगने की' छुट्टी कर देते। यह आश्रम की एक विशेष प्रकार की मौलिक छुट्टी होती थी, वर्षा होने पर! कोई भी कक्षा अपने अध्यापक के साथ ऐसी छुट्टी मनाने जा सकती थी। कभी अनिल चन्दा के साथ गाते हो–हल्ला मचाते हम लोग, श्रीनिकेतन की ओर चल देते।

श्रीवनेर गगनेर गाय
विद्युत चमकिया जाय
क्षणे, क्षणे शर्वरी सिहरिया उठे हाय--

शर्वरी सिहरे न सिहरे, समवेत कण्ठ--स्वर से, आश्रम की दिशाएं अवश्य ही सिहर उठतीं। पण्डितजी की कक्षा में, इस भीगने की छुटी के अतिरिक्त, एक प्रकार की छुट्टी और होती थी। यह छुट्टी होती, जब कभी--कभी कुछ चुने छात्र--छात्राओं को पण्डितजी के लिए ब्लेड, साबुन आदि लाने को आश्रम की एकमात्र दुकान कोऑपरेटिव स्टोर तक भेजा जाता। लानेवालों के लिए समुचित पारिश्रमिक की व्यवस्था भी रहती, इसी से इस उदार प्रस्ताव को स्वीकार कर कभी--कभी पूरी कक्षा ही चल पड़ती किन्तु प्रत्येक शान्त व्यक्ति की भांति पण्डितजी का क्रोध भी बड़ा विकट होता था। एक बार हमारी कक्षा के एक अत्यन्त सरल छात्र, शरणप्रसाद को पण्डितजी ने पढ़ते समय आंवले की गुठली कड़काते पकड़ लिया था। उन दिनों, आश्रम में छात्र--छात्राओं के इस आमलकी भक्षण से, प्रायः सभी अध्यापक परेशान थे। जिसे देखो वही आंवले की गुठलियां मुंह में सुपारी--सा कुतर रहा है। एक--दो बार पहले भी कुछ अन्य छात्राओं को इस उद्दण्ड कुड़क--कुड़क के लिए, पण्डितजी डपट चुके थे। "तुम लोग यहां आंवला खाने आती हो या पढ़ने ? अब किसी को गुठली मुंह में धरे देखा तो बाहर निकाल दूंगा, समझी ?" उन्होंने कहा था, पर समझनेवालियां खूब समझती थीं कि गरजनेवाला वह निरीह मेघ कभी बरसता नहीं ! उस बार हमारा सहपाठी शरणप्रसाद, जो हमारी कक्षा का सबसे शान्त छात्र था, न जाने कैसे पकड़ में आ गया।

"क्यों शरणप्रसाद," पण्डितजी का चेहरा तमतमा उठा, "कितनी दर्जन गुठलियां हैं मुंह में ? खोलो मुंह।"

शरणप्रसाद ने, भोले कन्हैया की भांति, मुंह खोलकर,

त्रैलोक्यदर्शन करा दिए। स्पष्ट था, कि गुठली बाजीगरी सफाई से जीभ के नीचे छिपा ली गई है।

"हूं," पण्डितजी बोले, "हम क्या समझते नहीं, खड़े रहो पूरे पीरियड, इसे देखो ....." उन्होंने फिर मेरी ओर अंगुली उठाकर कहा, "अभी नई आयी है पहाड़ से, कैसे शान्त गऊ--सी सिर झुकाए बैठी रहती है। एक तुम हो, इतने दिनों से आश्रम में हो, पर पल--भर शान्त नहीं बैठ सकते।"

उस सार्वजनिक सभा में अपनी प्रशंसा सुनकर मैं प्रसन्नता का गह्वर सहसा रोक नहीं पाई। ऐसी खांसी उठी कि जीभ के नीचे, बड़े छलबल से छिपाई गई मेरी आंवले की गुठली, गोली--सी छिटककर सीधी पण्डितजी की गोद में गिरी !

पहले वे चौंके, फिर एक ठहाका मारकर जोर से हंस पड़े।

उस उदार गुरु का वह राशिभूत अट्टहास आज भी रह--रहकर मेरी स्मृति--प्राचीर से गूंज उठता है। कान उमेठकर लेखनी की सही पकड़ सिखानेवाले उस सहृदय गुरु के चेहरे के बाद, दूसरा कठोर चेहरा उभरता है--अंग्रेजी के अध्यापक, तनय दा का।

मैं सोचती हूं, तनय दा मेरे ही जीवन पर नहीं, अपने अधिकांश छात्र--छात्राओं के जीवन पर भी, अपने रौबीले व्यक्तित्व की अमिट छाप, अवश्य छोड़ गए होंगे। श्री नन्दलाल बोस के समधी, श्री तनयेन्द्रनाथ घोष, पूरे आश्रम में अपने गरजते बादल के से कण्ठ--स्वर, वैसे ही रूखे स्वभाव और कठोर अनुशासन के लिए प्रसिद्ध थे। गोल--गम्भीर चेहरा, एक रंग--उड़े नारंगी रंग के पश्मीने में लिपटा मंझोले कद का गठा शरीर और दूर से ही चमकता पॉलिश--सा किया बुद्धिदीप्त माथा। उनके कक्षा में आते ही आश्रम के विजन, मण्टू घोष और वामन--जैसे दुर्दान्त लड़कों को भी सांप सूंघ जाता। मजाल है कोई चूं तो कर दे या यह

कह दे कि अमुक छात्र आज गृहकार्य करके नहीं लाया है। क्रूरता से भिंचे होंठ खुलते, छोटी–छोटी नग–सी बिठाई गई आंखें चमकतीं और पढ़ाई आरम्भ होती। इस बीच यदि कोई भी जम्हाई लेते पकड़ा जाता तो तत्काल पेशी होती। यह तनय दा की दृष्टि से एक अक्षम्य अपराध था।

"इसका अर्थ यही है, कि तुम्हारा ध्यान कहीं और है।" वे कहते, "बाहर निकल जाओ, जब तक जंगली की भांति मुंह खोलना बन्द नहीं करोगे, मेरी कक्षा में मत आना।"

आए दिन, एक–न–एक छात्र या छात्रा को इस अपराध का दण्ड स्वीकार करना पड़ता, क्योंकि जहां एक को जम्हाई आती, चेष्टा करने पर भी जबड़ों पर, संयम का अंकुश व्यर्थ हो जाता और देखते–ही–देखते दर्जनों मुंह, एक साथ खुलने बन्द होने लगते। एक बार मुझे भी कुछ ऐसी ही आशंका हुई। बड़ी चेष्टा से मैंने जम्हाई को घुटक लिया पर तनय दा की सर्वव्यापी दृष्टि ने चोर पकड़ ही लिया। जब उन्होंने घुमा–फिराकर भूमिका बांधी तो मैं पहले समझ ही नहीं पाई कि चोट मुझी पर है।

"यह तो आप सब जानते ही हैं कि जम्हाई दो प्रकार की होती है,"—वे गम्भीर स्वर में कहने लगे, "अन्तरंग और बहिरंग। जब निर्लज्जता से बत्तीसी दिखाकर जम्हाई ली जाती है तो उसे 'बहिरंग' जम्हाई कहते हैं, पर एक प्रकार की जम्हाई और होती है—जब बड़े दलबल से, सलज्ज संचकित मृगी की दृष्टि से, इधर–उधर देखकर, जम्हाई घुटक ली जाती है। इस प्रयत्न में, कभी–कभी आंखों की पुतलियां फैल जाती हैं और नथुने भी फूल उठते हैं। इस प्रकार की जम्हाई का, अभी–अभी एक उत्कृष्ट उदाहरण मेरी एक छात्रा ने प्रस्तुत किया है। क्यों, क्या राय है आप सब की। क्यों न उस उत्कृष्ट कला को पुरस्कृत किया जाए ?"

जब तक मैं उस व्यंग्य को ग्रहण करती, मेरी कला पुरस्कृत हो चुकी थी। मेरे ललाट पर अपने हाथ की खड़िया से, एक लम्बा वैष्णवी त्रिपुण्ड खींच, तनय दा मुझे बीच कक्षा में खड़ी कर चुके थे। मेरी वह त्रिपुण्ड चर्चित खिसियायी मुद्रा कई दिनों तक मेरे दुष्ट सहपाठियों का मनोरंजन करती रही। जहां से निकलती 'की हे वैष्णवी' के सम्बोधन, मुझे डसने लगते।

तनय दा लिखावट की स्वच्छता पर विशेष ध्यान देते थे। सामान्य–सी भी काट–छांट होती तो अभियुक्त को कटघरे में खड़ा कर दिया जाता। 'फिर से पूरा निबन्ध लिखो' कठोर आदेश मिलता। एक बार अन्य अध्यापकों की मुंहलगी, एक सम्पन्न रियासत की सुन्दरी असमी राजकन्या को भी केवल एक ही वाक्य काटने पर उक्त कठोर दंड मिला।

"मैंने एक ही वाक्य को काटा है"—बड़े दुस्साहस से उसने कहा, "आपने मेरा पूरा सुन्दर निबन्ध ही काट दिया।"

"तुम्हारे सुन्दर चेहरे से, केवल तुम्हारी नाक ही काट ली जाती तो फिर क्या तुम्हारा चेहरा सुन्दर रह जाता ?" कठोर उत्तर ने खींचकर थप्पड़–सा मार दिया था। सिर झुकाकर बेचारी ने दण्ड स्वीकार कर दिया था। जहां आश्रम के अन्य अध्यापक, चतुर्दिक् फैली आश्रम की बहुरंगी कक्षाओं में बदल–बदलकर अपनी छात्र–मण्डली को पढ़ाने ले जाते, कभी 'मालती छादिम तला' की सुशीतल छाया में, कभी लतावेष्टित सघन कुंज में, कभी बकुल पुष्पाच्छादित 'हॉर्स शू' में या गहन अमराई से सुवासित 'आम्रकुंज' में वहां तनय दा अपनी कक्षा को शिशु–विभाग के सम्मुख चौकोर जमीन के टुकड़े की लक्ष्मण रेखा में ही सदा बांधकर रखते थे। उनका वही स्थान नियत था। आंधी हो या तूफान, अचानक आ गए किसी बिछुड़े मित्र की ही भांति, कन्धे पर हाथ धरकर, चौंका देने वाली, बंगाल की मीठी बूंदाबांदी हो

या टीन–पेड़, छत उखाड़ू भयानक काल वैशाखी, तनया दा–अपने उसी स्थान पर उन्मुक्त आकाश के नीचे नारंगी शॉल का सिग्नल फड़फड़ाते लौहस्तम्भ–से खड़े हो जाते।

"पानी बरसने लगा है तनय दा," कभी–कभी दबी आवाज में हममें से कोई साहस बटोरकर कहती है।

"की हे, कागजेर नौका ना की तोरा ?" (क्यों जी, कागज की नाव हो क्या तुम सब ?) शायद उसी रौबीले कण्ठ–स्वर के भय से सहमकर बूंदाबांदी भी अपनी छेड़छाड़ बन्द कर देती। "तुम यदि सचमुच ही अंग्रेजी भाषा पर अधिकार पाना चाहते हो," वे कहते, "तो डिकेन्स अवश्य पढ़ो।"

डिकेन्स उनका प्रिय लेखक था। कभी 'डेविड कॉपरफील्ड' कभी 'क्रिसमस कैरल' और कभी 'पिकविक्स पेपर' से बीच–बीच में पढ़े गए अंश अपने सर्वथा अनूठे लहजे में प्रस्तुत कर, तनय दा हमारी कक्षा के चंचल छात्र–छात्राओं के चित्त भी मुट्ठी में बांधकर धर लेते। कभी–कभी तो एक पीरियड खत्म हो जाता और हम डिकेन्स की लच्छेदार भाषा के, चूरन–चटनी के चटखारे लेते रहते।

डरा–धमका और फुसलाकर पुस्तकों के नन्दनवन में, अंगुली पकड़कर ले जाने वाले अपने उस धीर–गम्भीर कठोर दिवंगत गुरु का स्मरण करती हूं तो स्वयं ही पलकें नम हो आती हैं। तनय दा के व्यक्तित्व का, विपरीत रूप देखने को मिलता था प्रभात दा में। पीला मंगोली रंग, करीने से छंटी फ्रेंचकट दाढ़ी, पतली नाक और ऐसा सुभग व्यक्तित्व जो देखने वाले को पहली ही दृष्टि में अपनी ओर आकर्षित करता। दूर ही से, अपनी उज्जवल हंसी का दर्पण चमकाते प्रभात दा 'हे यंग लेडी,' 'की हे राजकन्या' आदि सुमधुर कर्णप्रिय सम्बोधनों की झड़ी–सी लगाते, कक्षा में प्रवेश करते। तनय दा की ही भांति, उनका भी

एक विशेष प्रिय स्थान था। आश्रम की अतिथिशाला के सम्मुख, चिरपुरातन मौलसिरी के वृक्ष के नीचे घोड़े की नाल के आकार–सी बनी कक्षा।

कभी–कभी उस मुखरा सड़क से सन्थाल–दल वंशी बजाता निकल जाता, और कभी दूर–दूर तक फैली शाखाओं पर, पक्षी–दल का कलकूजन आरम्भ हो जाता।

ऐसे अवसर पर ही एक बार एक अनमन्यस्क छात्र का ध्यान पढ़ाई से हटकर हिलती टहनी पर निबद्ध हो गया और प्रभात दा, बड़े गम्भीर स्वर में, उसके पास खड़े होकर पूछने लगे, 'की हे विश्वामित्र, कौन मेनका नामछे आकाश थेके ?" (क्यों जी विश्वामित्र, कौन–सी मेनका उतर रही है आकाश से ?) कक्षा की खिलखिलाहट से खिसियाकर रह गया था बेचारा। प्रभात दा आश्रम के शायद सबसे पुराने अध्यापक थे और इसी से उनके पास संस्मरणों का ऐसा अपूर्व संकलन था कि कभी–कभी हम लोग इतिहास की पढ़ाई ही भूलकर रह जाते। अपने दोनों हाथ किसी अदृश्य जलराशि में धोने की मुद्रा में लपेटते प्रभात दा पढ़ाना आरम्भ करते। यह उनकी प्रिय मुद्रा थी। एक घण्टे में, इतिहास को छोड़कर प्रायः सभी कुछ पढ़ा डालते थे प्रभात दा ! कब 'बाल्मीकि प्रतिभा' में दस्युदल ने 'ऐनेछी मोरा लूटेपूटे' गाकर सामने बैठे आंग्ल प्रभुओं की ओर कैसे व्यंग्य बाण छोड़कर अद्‌भुत ऐक्टिंग की थी, कब अमिता टैगोर ने आश्रम के रंगमंच को धन्य किया था, कब नृत्यप्रवीणा गौरी दी का अभिनय देख, दर्शक मन्त्रमुग्ध होकर 'साधु–साधु' कहना भी भूल गए थे, आदि–आदि। पर सहसा, जैसे अपनी ही मीठी वंशी की धुन में खो गया ग्वाला, चौंककर इधर–उधर बिखर गए अपने गाय–भैसों के एक झुंड को लाठी मारकर फिर एक साथ जुटा लेता है वैसे ही प्रभात दा का कर्त्तव्य–बोध भी उन्हें सहसा चौंका देता और अनुशासन की एक ही लाठी मारकर वे फिर हमें विलियम बैण्टिक

के साथ, सती–प्रथा और ठगी–उन्मूलन के नीरस कार्य में जोत देते। बिना इतिहास की पुस्तक खोले ही वे अपना धाराप्रवाह भाषण आरम्भ कर देते। उनकी स्मरण–शक्ति विलक्षण थी। शायद इसी स्मृतिपारस से चमकाकर, उन्होंने आश्रम के अमूल्य संस्मरणों को खरा सोना बना, 'रवीन्द्र पुरस्कार' का सर्वोच्च सम्मान प्राप्त किया था।

बिना पुस्तक खोले ही वे धड़ाधड़ तिथियां बताते जाते। पानीपत के युद्ध की ऊबड़–खाबड़ तारीखें, जो आज तक न जाने कितने छात्रों की निद्रा अपहरण कर चुकी हैं, और न जाने कितनों की करेंगी, महमूद गजनवी के धारावाहिक आक्रमण, ठीक परीक्षा के समय बिसर जाने वाली फ्रेंच रिवल्यूशन की भ्रामक तिथि, सब उन्हें ऐसे स्मरण रहतीं जैसे सम्मुख कोई अदृश्य कैलेण्डर टंगा हो। तब उनकी उम्र, पचास के लगभग होगी, पर क्या सीना तानकर सजीली, दूल्हे की–सी चाल थी और क्या तेजस्वी नरसिंह का–सा रौब ! कुछ वर्ष पूर्व उनके, रूसयात्रा से लौटने पर मैंने उन्हें पत्र लिखा था। उसी छापे के–से अक्षरों की सुघड़ लिखावट में उत्तर आया था। किसी भी छात्र या छात्रा को वे अब भी नहीं भूले हैं और मुझे पूर्ण विश्वास है कि मेरी ही भांति उनके असंख्य छात्र–छात्राओं को, उनकी अनूठी इतिहास की कक्षा की स्मृति, अब भी उसी भांति पुलकित करती होगी। विज्ञान के छात्र–छात्राओं के लिए एक छोटी प्रयोगशाला भी थी, जहां प्रमथ दा जैसे हंसमुख, साथ ही अनुशासनप्रिय शिक्षक के साथ हम विज्ञान के नित्य नवीन परीक्षण देखते। हाइजीन की कक्षा लेते स्वयं आश्रम के कार्यरत डॉक्टर बाबू। जिन छात्र–छात्राओं ने उस सरल स्निग्ध व्यक्तित्व के साये में शरीर–विज्ञान की शिक्षा ली है, वे क्या कभी उसे भूल सकते हैं। "मस्तिष्क की गूढ़ रचना या पसलियों की रहस्यमय बनावट पर अमूल्य समय नष्ट करने से क्या लाभ ? उसे अपनी पाठ्यपुस्तक से घर जाकर पढ़ लेना,"

वे अपनी दोनों लम्बी भुजाएं हवा में नचाकर कहते।

"डॉक्टर बाबू, एक बार सुना दीजिए वही–वही," उनकी मुंहलगी कक्षा मचलने लगती।

झट से स्वास्थ्य–विज्ञान की नीरस पुस्तक बन्द कर दी । कण्ठ के जादूगर की लाल डोरीदार आंखें, संगीत–वाक्य े हो उठतीं। कान के पास हाथ धरकर वे अपनी री से पूरा अस्पताल गुंजा देते–

कोलकता केवल भूले भरा
मरी हाय रे–

कलकत्ता केवल भूलभुलैया है, मैं बलि जांऊ रे–

बऊ बाजारे गिया देखी
बउटी कोथाय नाई
श्याम बाजारे गिया देखिलाम
ना श्याम नाराई–

बहू बाजार में जाकर देखा, बहू कहीं नहीं और श्याम बाजार जाकर भी ठगा ही गया, न वहां श्याम मिले न राधा।

पलंगों पर पड़े मरीजों के मुरझाए चेहरे खिल उठते। जिस रोग को डॉक्टर बाबू की औषधि नहीं जीत पाती उसे उनके कण्ठ की मृतसंजीवनी सुधा जीत लेती। एक के बाद एक कितने ही भटियाली, बाउल और कीर्तन वे गाते, किन्तु उनके संगीत की मंजूषा रिक्त नहीं होती। पीरियड कब का शेष हो गया होता, इसकी किसी को सुध भी नहीं रहती। सप्ताह में एक दिन उनकी क्लास होती और प्रायः नित्य ही संगीत–शिक्षा ही स्वास्थ्य–विज्ञान पर विजय पा लेती। फिर भी आश्चर्य यह होता है कि ऐसी सरस शिक्षा के बावजूद, उनकी किसी छात्रा ने, उनके विषय में मुंह की नहीं खायी। प्रायः आधी रात को, अपनी खंजड़ खड़खड़ाती

साइकिल पर गाते डॉक्टर बाबू का कण्ठ–स्वर, आश्रम के आम्रकुंज या शालबीथि से तैरता आता–

पानी भरे हो
पानी भरे हो
कौऊ अलबेले की नार झमाझम

यह 'गारा' उनका अत्यन्त प्रिय गीत था, और उनके अटपटे हिन्दी उच्चारण की मिठास 'गारे' के मीठे टहूके को और मीठा बना देती–

हाथ रसरिया
सर पै गगरिया
तिरछी चितौवन
घायल करे री–
कोऊ अलबेले की नार झमाझम

मैं भी उन्हें हंसकर टोक देती–"आपनी चितौवन बौलेन कैनो, शैटा जे चितवन" (आप 'चितौवन' क्यों कहते हैं, इसे चितवन कहते हैं।) पर वे डपट देते–"थाक थाक, तोके आर फाजिलामी करते हौबे ना।" (रहने दे, तुझे मसखरी करने को किसने कहा है ?) आश्रमिका–संघ की पिकनिक होती तो बड़ी मान–मनुहार के बाद हम उन्हें आने के लिए तैयार कर पाते। वही आश्रम के एकमात्र चरक थे, इसी से उनकी विस्तृत मरीज–मण्डली उन्हें सहज में छोड़ना नहीं चाहती थी। पर पिकनिक भी तो उनके कीर्तन के बिना अधूरी रह जाती। प्रत्येक रोगी को शीघ्र ही पिकनिक से लौट आने का आश्वासन देकर, डॉक्टर बाबू आ ही जाते, फिर क्या कोई कीर्तन–गायन में उन्हें पछाड़ पाता ? मृदंग लेकर बैठ जाते हमारे संस्कृत के अध्यापक गोसाईंजी। बूटा–सा कद, बड़े उलझे बाल, ढीला कुरता और मोटी धोती, देखकर लगता–कोई सरस बीरभूमि–ग्रामीण, सातवीं पौष का मेला देखने

चला आया है। पर जहां उनकी सरल अंगुलियां मृदंग को छूतीं, सुननेवाले बीन सुनकर, झूमते सांप–से झूमने लगते। फिर मृदंग के थपेड़ों के साथ–साथ डॉक्टर बाबू छेड़ते चण्डीदास का पद–

प्रभाते उठिया
जे मुख हेरीनू
दिन जाबे आजी भालो
कहे चण्डीदास

और फिर आरम्भ होता उनका मधुर आलाप–अपने कार्यरत जीवन में भी, मैंने उन्हें कभी चिड़चिड़ाते नहीं देखा। जहां कहीं उनकी पुकार होती वे स्वयं वहीं उपस्थित हो जाते।

कलकत्ते की प्रसिद्ध टीम फुटबाल खेलने आई है, आश्रम का आकाश धूल के गुब्बार से धुंधला पड़ गया है। सहसा हल्ला मचता है–"भेंगे छे, भेंगे छे रे, छेलेर हाथ गैछै। (टूट गया, टूट गया रे, लड़के का हाथ गया)। किसी खिलाड़ी की हाथ की हड्डी टूट गई और न जाने किस कोने से, दर्शकों की भीड़ को चीरते डॉक्टर बाबू चले आ रहे हैं। क्रॉस कण्ट्री रेस चल रही है, पसीने से लथपथ मुंह में रूमाल दबाए आश्रम का एक छात्र सहसा पछाड़ खाकर गिर पड़ता है। डॉक्टर बाबू अपनी टूटी साइकिल भगाते चले आ रहे हैं। गरदनतोड़ बुखार हो या वीरभूमि का घातक मलेरिया, बंगाल की भयानक शीतला 'पानवसन्त' का प्रकोप हो या बंगवासी केउटे का सर्पदंश, डॉक्टर बाबू सबके लिए मृत्युंजय थे। अपने लम्बे आश्रम–जीवन में मुझे केवल दो बार पराजित मृत्युंजय को देखने का दुर्भाग्य प्राप्त हुआ था। एक बार, जब अपनी लाल–लाल आंखों में विवशता की पीड़ा लिए डॉक्टर बाबू हाथ पर हाथ धरे, सन्निपात ज्वर से पीड़ित कलाभवन के, लोकप्रिय छात्र दुर्गा राय की मृत्युशैया के सिरहाने बैठे रह गए थे। तब तक सन्निपात ज्वर की कोई संजीवनी बूटी उपलब्ध नहीं थी, न

दुर्गा राय के क्षीण स्वास्थ्य की जमापूंजी ही विशेष गरीयसी थी। दूसरी बार, जब उत्तर प्रदेश के तरुण छात्र हरिशंकर की, आश्रम–पोखर में डूब जाने से मृत्यु हो गई थी। डॉक्टर बाबू स्तब्ध बैठे कभी उसकी अचल नाड़ियां देखते, कभी छाती पर कान सटा देते।

तब आश्रम में लेडी डॉक्टर की भी व्यवस्था नहीं थी। एकमात्र डॉक्टर बाबू ही आश्रम के मसीहा थे। भुवनडांगा से लेकर श्रीनिकेतन, सन्थाल ग्राम से लेकर बोलपुर दिन–रात अपनी साइकिल का अरबी घोड़ा भगाते वे न जाने कितने मरीज देख डालते, पर उनके कण्ठ की गुनगुनाहट और होंठों के सरल स्मित की रेखा कभी नहीं सूखती। आश्रम के छात्रों में त्रिपुरा के राजकुमार से लेकर सुमात्रा–जावा के लक्षाधिपतियों के पुत्र भी थे, छात्राओं में एक से एक बड़े उद्योगपतियों की पुत्रियां भी थीं, असम और अगरतला के राजपरिवार की राजकन्याएं थीं, सबकी नाड़ियां एक–एक कर, आश्रम के उस परमहंस मसीहा की पकड़ में आती रहतीं, पर वे निर्विकार निर्लिप्त भाव से उनके रोग का निदान कर, औषधियां देते रहते। उनके स्नेह की छाया सब पर समान रूप से पड़ती, चाहे वह राजपुत्र हो या आश्रम का दीन–हीन छात्र ! कोई उनका शत्रु नहीं था, मित्र था पूरा आश्रम। रोग यदि साधारण हुआ तो डॉक्टर बाबू वहीं पर मौखिक नुस्खा दे डालते–"देखी जीभ, ओ, एटा ओ कोनो असूख ! जा, पंचतिक्त खेये ने आर भालो देखे एकटा माछेर झोल" (देखूं जीभ ! वाह यह भी भला कोई बीमारी है ! जा पंचतिक्त पी ले और एक अच्छी–सी तगड़ी मछली का झोल)।

कहना व्यर्थ है, नुस्खा उड़ा दिया जाता। 'पंचतिक्त' पीना स्वयं नीलकण्ठ बनना था। पता नहीं किन भयानक कड़वी पांच औषधियों के सम्मिश्रण से, डॉक्टर बाबू, अपनी वह महौषधि तैयार करते थे। वह सारे रोगों की रामबाण औषधि थी, इसमें कोई सन्देह

नहीं; किन्तु स्वाद ! आज भी स्मरण करती हूं तो बदन सिहर जाता है। उसी पंचतिक्त को, एक कांच के गिलास में भर, सब छात्र–छात्राओं को तब पंक्तिबद्ध खड़ा कर, पिलाया जाता और घण्टों तक, उस कड़वे स्वाद की महिमा भुलाए नहीं भूलती। आश्रम के सामिष भोजनालय में मछली का झोल प्रायः नित्य ही बनता, हिलसा, ईलिश, मागुर, सुकटो, झींगे, चिंगड़ी प्रत्येक मछली की सन्दर्भ सहित व्याख्या स्वयं डॉक्टर बाबू ही देते–"मागुर खेले चोखे भालो, हिलासा देबे बुद्धि, सुक्टो खेले काश नेई, चिंगड़ी खेले हाँफानी पालाबे" (मागुर मछली खाने से आंखों की ज्योति बढ़ेगी, हिलसा बुद्धि देगी, सुक्टो खाने से खांसी दूर होगी और चिंगड़ी खाने से दमा दूर भागेगा।)

बाहर से आए हम–जैसे अबंगाली छात्र–छात्राओं की अनभ्यस्त अनाड़ी कण्ठनली में कभी मछली का कांटा फंस जाता, तो फिर डॉक्टर बाबू की पुकार होती और कांटा निकालने की भी उनकी अपनी ही मौलिक प्रणाली थी। पूरा केला निगलने में चाहे खानेवाली की आंखें ही फटकर बाहर क्यों न निकल आएं, पर जैसे–तैसे निगलवायेंगे ही डॉक्टर बाबू–"देखा ना, कांटा दूर ! केले के साथ ही कांटा भी गया पेट में ! कोई भय नहीं। पेट का क्या कंठ का–सा संकीर्ण मार्ग है ?" हो–हो हंसकर वे खानेवाली की पीठ पर, कसकर एक मुक्का जमाते, जिससे रहा–सहा कांटा भी भीतर चला जाए ! फिर कहते–"पेट का पथ है प्रशस्त, कांटा मजे से केले के साथ घूम–घामकर स्वयं ही हट जाएगा। अब संभलकर मछली खाना, समझी ?"

उस सरल व्यक्ति के मोहक और लोकप्रिय व्यक्तित्व का रहस्य आखिर क्या था ? शायद भोले शिशु–सी सरल उन्मुक्त हास्य–लहरी, या सादे वस्त्रों की अछूती मोहनी। घर पर ही धुली पाण्डु जीर्ण कमीज की निरीह कमनीयता न जाने श्रावणों के उपालम्भ सुन चुकी जर्जरित सोला हैट की अनुपम छटा, या काले

और बादामी रंग से विचित्र समझौता करता उनका चिरपुरातन कोट ! उनमें क्या अच्छा लगता था, यह कहना आज सचमुच ही कठिन हैं। जब दिगन्त विस्तृत आश्रम के धान–खेत, काशवन, सन्थालग्राम, कोपाई नदी, सब एक सम्मिलित करवट लेकर एकदम ही बदल गए हैं, तो क्या डॉक्टर बाबू भी बदल गए होंगे? गत वर्ष उनका एक कार्ड आया था, "बूढ़ा हो गया हूं अब"—उन्होंने लिखा था। सचमुच ही उनके कांपते हाथों से लिखे गए अक्षर कहीं–कहीं पर बुरी तरह कांप गए थे। सत्तर के आसपास पहुंच गए होंगे, उस पर जीवन–संगिनी पक्षाघात से पंगु होकर बिस्तर पर पड़ी हैं। जिस साथी की सरस अंगुलियां मृदंग पर उनकी संगत किया करती थीं, उन्हें विधाता ने निर्जीव कर दिया है। उनके टेढ़े–मेढ़े कांपते अक्षरों में अपने कल्पना–चक्षुओं से उन्हें ढूंढ़ने की विफल चेष्टा करती हूं; पर कहीं भी मुझे वयःभार नमित बूढ़ा मसीहा नहीं दिखता। बार–बार उनका हंसता सदाबहार चेहरा ही आंखों के सामने तैरने लगता है। आश्रम के सीमान्त पर बना वह अस्पताल, मेरे जीवन में देखा गया पहला और अन्तिम ऐसा अस्पताल था—जिसमें न तो औषधियों की ही दुर्गन्ध आती थी, न किसी प्रकार के भय का ही आविर्भाव होता था। डॉक्टर बाबू के प्रिय सहयोगी यादव बाबू ही दवा बनाने से लेकर, रोगियों की परिचर्या तक का काम निबटाते। आश्रम का वह शान्त अस्पताल, बहुत पुराना था। बड़ी–बड़ी खिड़कियों और दोनों ओर आर–पार खुले हवादार द्वारों को देखकर, किसी सैनेटोरियम का–सा आभास होता है। दीवारों पर फ्रेस्कों के कलात्मक चित्र थे और सामने की खिड़की से दिखता था टेढ़ी–मेढ़ी रेलवे लाइन पर अपनी लाल–हरी आभा बिखेरता सिग्नल ! अस्पताल के सामने एक छोटी–सी इमारत थी, जिसमें डॉक्टर बाबू का दफ्तर भी था और डिस्पेन्सरी भी थी। वहीं हमारी कक्षा भी लगती थी।

एक कोने में वजन तोलने की मशीन जमी रहती और दूसरी

ओर एक लम्बी मेज पर एक गुदगुदा गद्दा, लाल कम्बल से ढंका रहता। एक दूसरी मेज पर कांच के अमृतबानों में दवा के संरक्षण में सुरक्षित दो भयानक विषधर सजाए रहते। एक कोने में कांच की आलमारी में एक कंकाल झूलता रहता, जिसकी घड़ी के पेण्डुलम–सी हिलती हड्डियों का डॉक्टर बाबू हमसे विधिवत् परिचय कराते। एक दिन, किसी लड़की ने कह दिया कि वह किसी संथाल का कंकाल है और डॉक्टर बाबू उसे सांडताल ग्राम से खरीद कर लाए हैं। कौतूहल सब को था, किन्तु पूछने का साहस किसी को नहीं हुआ। अन्त में सर्वसम्मति से यह कठिन कार्य मुझे सौंपा गया। मैं डॉक्टर बाबू की मुंहलगी छात्रा थी—"तुई जिग्गेश कौर ना, तोके किछू बकबेन ना, तुई जे अबांगाली" (तू पूछना, तुझे नहीं डांटेंगे, तू अबंगाली जो है)। लड़कियों ने मुझे उकसाया और मैं भरी कक्षा में उनसे अपना वह मूर्ख प्रश्न पूछ बैठी थी—

"डॉक्टर बाबू, यह कंकाल क्या किसी सन्थाल का है ?"

"ओह"—उन्होंने बड़ी गम्भीर मुखमुद्रा बनाकर मेरी ओर देखा, "दांड़ा, जिग्गेश कर देखी की बौलैन भद्रलोक—" (ओह, रुक जा, पूछता हूं देखूं भद्रलोक क्या कहते हैं)। फिर उन्होंने उतनी ही गम्भीर मुद्रा में, अपना मुंह कंकाल के कान के पास सटाकर जोर से चीखकर पूछा—"सुनून हे मोशाय, अपनी की सांउताली ? ए मेयेटा जानते चाय।" (सुनिए, महाशय, आप क्या सन्थाल हैं ? यह लड़की जानना चाहती है)। ओरे बाबा—बौलैन की भद्रलोक, बलछेन उनी ना कि खांटी बांगाली, लिखेने, लिखेने, परीक्षाय लिखले बेशी नम्बर पाबी।" (अरे बाप रे बाप, कहते क्या हैं सज्जन ! कहते हैं वे हैं शुद्ध बंगाली। अरी लिख ले, लिख ले, इम्तहान में यह सब लिखेगी तो ज्यादा नम्बर मिलेंगे।) फिर जब मुझे अपदस्थ देखकर पूरी कक्षा हंस रही थी, उन्होंने पास आकर जोर से मेरा कान मल दिया—"जत सब फाजलामी आमारी

क्लासे कैनो !" (जितनी सब शैतानी होगी सब मेरी क्लास में, क्यों ?)

मैं रुंआसी खिसियानी छात्रावास को लौट रही थी तो अचानक कंधे पर उनका हाथ पड़ा—"की रे, काने लेगेछे नुझी ? किन्तु क्लासे की ओ सब बाजे कथा चले ?" (क्यों री, कान में बहुत दर्द हो रहा है क्या ? पर क्लास में कहीं ऐसी बेकार की बातें पूछी जाती हैं ?)

शान्तिनिकेतन की प्राक्तन छात्र—छात्राएं अपने उस स्नेही गुरु की स्नेह से छलकती, अपूर्व लाल डोरीदार आंखें कभी नहीं भूल पाएंगी। उनके लिए तो वे युग—युगान्तर तक कोपाई नदी के रांगा—माटी के पथ पर खंजड़ साइकिल की खंजड़ी बजाते गाते रहेंगे—

कोलकाता केवल
भूले भरा
मरी हाय रे—

हमारे हिन्दी के दो अन्य अध्यापक थे, श्री भगवतीप्रसाद चन्दोला और मोहनलाल वाजपेयी। गोरे लम्बे चन्दोलाजी गम्भीर और अनुशासन प्रिय शिक्षक थे। क्लास में हंसी, शोरगुल उन्हें एकदम ही नापसन्द था। कभी हममें से किसी को फुसफुसाते देख लेते तो पढ़ाना बन्द कर चुप बैठ जाते। उनकी उस रोषपूर्ण चुप्पी में चाबुक का—सा असर रहता। खिसियाकर पूरी कक्षा, स्वयं मूक क्षमा—याचना कर उठती। मोहनलाल वाजपेयी अलमस्त गुरु थे, हिन्दी के अतिरिक्त वे, मेरे संगीत—शिक्षक भी रह चुके हैं। उनका कण्ठ तब अत्यन्त मधुर था। गालिब की गज़लें, बुन्देलखण्डी लोकगीत और फाग वे अत्यन्त भावपूर्ण ढंग से गाते और हमें लिखाते रहते—

आ जाऊंगी बड़ी भोर
दहिया लेकै
आ जाऊंगी बड़ी भोर
ना मानौं चुनरी धरी राखौ
मोतियन लागी कोर
दहिया लेकै—

भावविभोर होकर वाजपेयीजी बार—बार पहली पंक्ति को दुहराते और जायसी के नोट लेने आई उनकी छात्राएं, उस सुमधुर लोकधुन को कॉपी पर उतारतीं—'आ जाऊंगी बड़ी भोर।'

ऐसे ही, एक और संगीतप्रिय स्नेही गुरु थे, आचार्य क्षितीमोहन सेन। उनकी पौत्री सुनीपा मेरी सहपाठिनी थी और मैं प्रायः ही उनके यहां के मीठे बेर खाने पहुंचती रहती थी। उनका मुझ पर अत्यन्त स्नेह था। क्षितीमोहन बाबू का चिकना—चुपड़ा गोल चेहरा, स्निग्ध हंसी और घुंघराले बाल देखकर, उन्हें बड़ी दूर से ही पहचान मैं चटपट प्रणाम करने झुकती तो वे हंसकर पूछते—"की रे आबार कबीर ?" (क्यों री फिर कबीर ?) मैं प्रायः ही किसी साहित्य—सभा में गाने के लिए उन्हीं के पास सब से पहले पहुंचती—"कोई कबीर का पद लिखा दीजिए, ऐसा जो आज तक किसी ने न गाया हो।" और फिर ऐसे न जाने कितने पद, कितनी बार उनसे लिखवाकर लाई थी ! उस बार उन्होंने हंसकर कहा—"एई बारे एकटा नतून कवि धरबी बूझली ?" (इस बार एक नया कवि पकड़, समझी ?) और जब मैंने उन्हें उनके लिखाए गए नए पद को स्वर में बांधकर सुनाया, तो उनकी आंखें भर आईं, पीठ थपथपा कर उन्होंने कहा था—"तुई एक दिन गाने बेश नाम कोरबी मां।" (गाने में तेरी, एक दिन सुख्याति होगी मां।) किन्तु गुरु की वह भविष्यवाणी मेरे दुर्भाग्य से फलीभूत नहीं हुई। संगीत से छिटककर, मैं बड़ी दूर जा गिरी।

उनका लिखाया वह पद, अब कभी गुनगुनाती हूं तो लगता है—क्षितीमोहन बाबू आकर सामने बैठ गए हैं, रेशमी चादर से ढंकी उनकी पृथुल, रजत गिरि—सी देह, ताल दे रही खड़ाऊं के साथ—साथ हिल रही है, और मैं गा रही हूं—

झड़ी लागै महलिया,
गगन घहराय
सुन्न महल से
अमरत बरसै
प्रेम अनंद है साधू अन्हाय
झड़ी लागै—

वही क्षितीमोहन बाबू फिर प्रत्येक बुधवार की प्रार्थना—सभा में बोल रहे हैं—"अन्धकार थेके आमादेर आल्तोते निए जाओ तोमार जे दोक्खीन मुख तमसो मा ज्योतिर्गमय।" उनका गुरु—गम्भीर कण्ठस्वर गिरि—कन्दराओं में गूंज रहे पुरुष मेघ—सा ही गरजता था।

मौशाई हमारे भूगोल के अध्यापक थे और गुरुपल्ली में ही रहते थे। उनकी पुत्री सुप्रिया, पुत्र बामन दोनों मेरे सहपाठी थे किन्तु फिर भी मैं उनसे थर—थर कांपती। मौशाई का क्रोध बड़ा विकट था।

प्रश्न पूछने पर यदि उत्तर नहीं दे पाती, तो वे पीछे—पीछे दोनों हाथ बांधे, धीरे—धीरे कठोर दृष्टि से घूरते फिर एकदम ही पैंतरा बदल, चुटिया पकड़ लेते—"देवी, पड़ा—सुना कोरे आशो नाई।" (देवी, घर से पाठ याद कर नहीं आई।) उनकी मुट्ठी में कसकर पकड़ी गई किसी छात्र की शिखा हो या किसी छात्रा की वेणी—समान रूप से बड़ी ही निर्ममता से झकझोर दी जाती। एक बार तो मौशाई ने एक शैतान छात्र के मुट्ठी भर बाल उखाड़ लिए थे। उनका पुत्र बामन, हमारी कक्षा के दुर्दान्त छात्रों में सबसे

प्रमुख था। अपने छोटे कद और तीखे कण्ठ के कारण, वह दूर से पहचाना जा सकता था। एक बार, वह अपने पिता की कक्षा में ही कुछ शैतानी करते रंगे—हाथों पकड़ा गया और मौशाई ने उस दिन मुट्ठी की पकड़ पुत्र की शिखा पर आवश्यकता से कुछ अधिक ही कड़ी कर दी थी—"देख, देखने तारो, दुष्टुमी कोलरे चूलेर ऐई अवस्था तोदेर ओ होते पारे!" (देख लो, तुम सब लोग भी देख लो, शैतानी करने पर, तुम्हारे बालों की भी यही अवस्था हो सकती है)।

अनिल चन्दा कई वर्षों तक गुरुदेव के प्राइवेट सेक्रेटरी रह चुके थे, बाद में वे ही कॉलेज में जाने पर हमारे राजनीति के प्रोफेसर बन गए थे। अनिल दा से उनके छात्र—छात्राओं का एक और रिश्ता भी था। भूख लगने पर कभी भी हम छात्राएं, उनका द्वार खटखटा सकती थीं और रानी दी की स्निग्ध स्नेहपगी हंसी ही हमारी आधी भूख भगा देती। कभी मछली के कटलेट, कभी चाप और कभी बेर के अचार के साथ कागज—सी पतली रोटियां। कॉलेज—पार्टी को दूर—दूर तक घुमाने ले जाने का सरस प्रस्ताव भी सदैव अनिल ही रखते। एक बार हमें लेकर वे राजमहल गए थे और दूसरी बार बनारस। बनारस में राजघाट स्कूल में ही हमारे रहने की सुव्यवस्था कर दी गई थी। दिन—रात हमें इधर—उधर घुमा, जी भरकर नौका—विहार करा अनिल दा हमारी पूरी पार्टी को चाट भी खिला लाए थे; पर फिर भी हमारा मन नहीं भरा था। एक बार तांगे में चढ़ विश्वनाथ की गलियों में फिर घूमने को हमारा अविवेकी मन ललक उठा। इस बार हमने एक भयानक दुस्साहसी छलांग लगाई। चुपके से, बिना अपने उदार गुरु की अनुमति लिए ही, एक तांगा भी मंगवा लिया और देखते—ही—देखते उसमें एक चादर तानकर परदे की भी सुव्यवस्था कर दी गई। फिर क्या, हम कुछ छात्राएं उसमें सवार होकर शहर घूमने चल दीं! हमने सोचा था कि अनिल दा अभी तो हमें घुमा कर छात्रावास

पहुंचा गए हैं, संध्या से पहले तो हमें देखने आएंगे नहीं, सोचेंगे हम सब थककर सो रही हैं। जब तक वे स्वयं जगकर हमें खाने के लिए बुलाने आएंगे, हम लौट आएंगी। किन्तु नर के मन की योजना नारायण भला कब भंग नहीं करता! हमने, मन भरकर विश्वनाथ की गलियो के चक्कर लगाए, कचौड़ियां खाईं, कुहनी तक रेशमी चूड़ियों के लच्छे पहने, एक बंगाली दुकान से तांत की साड़ियां खरीदीं और पान से होंठ लाल कर फिर उसी परदे–तने तांगे पर, मुसलमान जनानी सवारियों–सी लदी–फंदी घर की ओर चलीं। "समय अभी बहुत है, देखना छह बजे ही हमें पहुंचना है तांगेवाले, और तांगा फाटक से कुछ दूर ही रोकना समझे ?" हमने कह तो दिया पर वह बेचारा समझने पर भी क्या हमें छह बजे पहुंचा सकता था ! मार्ग का रेल का फाटक बन्द था और बड़ी देर की प्रतीक्षा के बाद, कांखती–कराहती एक बूढ़ी–सी मालगाड़ी आई भी तो वहीं दम तोड़कर पसर गई। सर्व–सम्मति से यही तय हुआ कि अब दूसरे घुमावदार मार्ग से वापिस चल, अनिल दा से क्षमा–याचना करनी होगी; किन्तु हमारा अपराध क्या साधारण था ? तांगेवाले ने घोड़ा मोड़ा ही था कि छात्रों का दल–बल लिए अनिल दा, हमें स्वयं वहीं खड़े मिल गए। मुझे आज भी उनकी वह आग उगलती आग्नेय दृष्टि स्मरण कर जूड़ी चढ़ आती है। तमतमाये चेहरे को देखकर, फिर हमें कुछ कहने का साहस ही नहीं हुआ था। तांगेवाले को किराया देकर, उन्हीं ने विदा किया और फिर जो फटकार पड़ी थी–"शर्म नहीं आई तुम्हें ? छिः–छिः ! आश्रम की छात्राएं हो, अपनी जिम्मेदारी पर मैं तुम्हें इतनी दूर घुमाने लाया हूं, अगर ये तांगेवाला तुम सबको लेकर कहीं भाग जाता तब ?"

हमारी गरदनें एक साथ नीचे लटक गईं, जैसे किसी सधे शिकारी ने, डक–शूटिंग में बत्तखों की पूरी कतार की कतार धांय–धांय कर नीचे गिरा दी हो। क्रोध, परिताप और क्षोभ से

उनका कंठ अवरुद्ध हो गया था। हममें से एक को भी इतना साहस नहीं हुआ कि आंख उठाकर उनकी ओर देखे। बाद में, उनके पैरों पर सिर घिस–घिसकर ही क्षमा–याचना की थी और बड़ी कठिनता से उन्हें हम मना पाई थीं। पर वे समय से पूर्व ही हमें ढूंढ़ने कैसे चले गए और किसने उनसे कह दिया कि हम तांगे में चादर बांध विश्वनाथ के दर्शन को गई हैं? "मैं जानता था कि तुम लोग तांगे पर चादर तानकर, एकदम मुसलमानी जनाना बनकर घूमने निकली हो। अरी, एक–आध बुरका क्यों नहीं मंगवा लिया कहीं से !" क्रोध में भुनभुनाकर उन्होंने हमें फटकारा था।

हम जब तांगे में चादर तानकर चलने की तैयारी कर रही थीं, तब ही हमें, हमारे साथ काशी आए एक छात्र ने देख लिया था। वह छात्र थे, मथुरा के निरीह सरल प्रकृति के पण्डितजी। वयस में वे हमसे बहुत बड़े थे, वेशभूषा भी उनकी विचित्र रहती। धोती–कुरता, कुरते के ऊपर कसी लाल वास्कट और वास्कट पर खोंसा गया कोई बड़ा–सा फूल। पण्डितजी आते तो लड़कियां कहतीं–"वहां, देख लाल इंजन की सर्चलाइट चमक रही है।" हमारी हंसी को पण्डितजी, सदा अपने व्यक्तित्व को अर्पित की गई जयमाला के रूप में ही ग्रहण करते। लड़कियां उनके सरल स्वभाव का, कभी–कभी नाजायज फायदा उठाती रहतीं, "अजी पण्डितजी, जरा पान ले आइए तो दौड़कर, और सुनिए एक हंड़िया चमचम भी लाइएगा, बढ़िया, काशी में सुना चमचम बढ़िया मिलते हैं क्यों ?"

"क्यों नहीं, क्यों नहीं," और थोड़ी देर में हम देखतीं पसीने से लथपथ पण्डितजी हंडिया–भर चमचम और मघई पानों का बड़ा–सा पूड़ा लिए चले आ रहे हैं। उस दिन जब उन्होंने, हमें चादर ताने तांगे की रहस्यमयी सवारी बनी देख लिया तो हमने अपना हित इसी में समझा कि हमें स्पष्ट कर स्थिति समझा ही

दी जाए; क्योंकि कभी–कभी पण्डितजी की सरलता घोर मूर्खता भी कर बैठती थी।

"सुनिए पण्डितजी" हमने अपनी सबसे आकर्षक हंसी का दांव फेंका, "हम विश्वनाथजी के दर्शन को जा रही हैं, अभी उल्टे पैरों लौट आएंगी; पर देखिए, आप किसी से कुछ कहिएगा नहीं।"

परदा तानकर, बाबा विश्वनाथ के दर्शन को जा रहीं धर्मपरायणा सहपाठिनियों के निर्दोष आत्मनिवेदन ने पण्डितजी को अभिभूत कर दिया, बेंत की लचीली छड़ी की ही भांति दुहरे होकर बेचारे ऐंठ गए–"जाइए, बड़ी खुशी से जाइए, जब तक आप लौटेंगी नहीं, हम यहां चहलकदमी करते रहेंगे।" किन्तु, उनकी उस चहलकदमी का हमें भारी मूल्य चुकाना पड़ा। कुछ ही देर बाद, अनिल दा भी टहलते वहीं से अपने कैम्प की ओर जा रहे थे।

उन्होंने हंसकर पूछा–"की हे पण्डित की कोरछौ एखाने, मेयेरा आबार चमचम आनते पाठाच्छे ना की ?" (क्यों जी पण्डित, क्या कर रहे हो यहां, लड़कियों ने फिर चमचम लाने बुला भेजा है क्या !)

"आज्ञे, ओरा जे आज के निजेई चमचम खेते एक्खूनी बेरियेछे शे कि आपनाके आमी बोलते पारी–आरो। जे बारन कोरे गैछै सर–तबै तांगाय बेश परदा दियेछे" (जी, आज तो वे स्वयं ही चमचम खाने अभी–अभी गई हैं–यह मैं क्या आपसे कह सकता हूं ! मना कर गई हैं सर–पर तांगे में खूब परदा लगाकर गई हैं।) और फिर मूर्ख पण्डितजी ने हमें स्वयं कटघरे में खड़ी कर दिया था।

गुरुपल्ली के श्री ललितमोहन गुप्त, हमारे अध्यापक–मण्डल के सदस्य न होकर भी हमारे गुरु थे। उनकी बड़ी पुत्री पारुल

दी, गुरुदेव के तत्कालीन सचिव डॉ॰ धीरेन्द्रमोहन सेन की पत्नी थीं, मँझली अनिमा हमारी सहपाठिनी थी, तीसरी नीलिमा तब स्कूल के पाठ–भवन की छात्रा थी। आज वही नीलिमा, रवीन्द्र–संगीत की एक सुनिपुण सुप्रसिद्ध गायिका है। ललितमोहन बाबू के पास हम प्रायः ही पहुंचती रहतीं, कभी कोई निबन्ध लिखवाने, कभी किसी कठिन पद की व्याख्या करवाने, और उतनी ही बार वे आल्मारी से निकाल–निकालकर कितनी ही सुस्वादु मिठाइयां हमारे सामने सजा देते–चंद्रपूली, गजा, चमचम, खीरेर सन्देश और मेरे लिए तो मछली घर में न रहने पर भी, कहीं से मंगवाकर, उसी समय स्टोव पर फ्राई करवाकर लाई जाती। उनकी 'सीमान्तिका' में, ठण्डी शीतलपाटी पर बैठ, मेरे आश्रम–जीवन के कितने ही मधुर क्षण उनकी स्नेह–पगी हंसी से और भी मधुर बने उठे थे। गांधीजी का उन पर अनन्य स्नेह था, 'मासी मां' उनकी पत्नी प्रायः ही बीमार रहतीं, उन्हीं के सिरहाने बैठ चरखा कातते ललितमोहन बाबू मुझसे कहते–"मां, तूमी निश्चयई ओ जन्मे बांगाली छिले। बांगाली ना होले कि माछेर मुंडू दिए रांधा छोलार डाल, अमन स्वाद निए खेते पारते ?" (मां, तुम निश्चय ही उस जन्म में बंगाली रही होंगी–न होतीं तो क्या माछ का मुण्डू देकर रांधी गई चने की दाल ऐसे स्वाद लेकर खा पातीं ?)

अब मेरे आलोचक, मेरे इसी कन्धे पर घातक निशाना लगाते हैं, जिसे अंग्रेजी में कहते हैं, 'Shoulder Shot'–"शिवानी की रचनाओं में है ही क्या ! एकदम बांग्ला लेखनी का भावुक चमत्कार" किन्तु निन्दा के उस कर्णकटु कोलाहल में भी आज मुझे अपने उसी विस्मृत गुरु का स्नेह–स्निग्ध स्वर, कभी–कभी स्पष्ट सुनाई देता है–"मां, तुमी ओ जन्मे निश्चयई बांगाली छिले–"

एक बार ललितमोहन बाबू की "सीमान्तिका' ही में बैठकर हमें एक शैतानी सूझी थी। पैरों में यदि उन दिनों कैशोर्य की वह गजब की फुर्ती न होती तो निश्चय ही उस दिन मौलाना आदमुद्दीन साहब का झाड़ू मेरी पीठ पर होता। मौलाना साहब सीमान्तिका के एकदम सामने बने एक नए मकान में रहते थे। गम्भीर रूखी मुखमुद्रा, तुर्की टोपी, विचित्र–सा पाजामा और एक नए ही नमूने का चोगा–सा कोट। हम नमस्कार करतीं तो कोई उत्तर नहीं, न हंसी, न मुस्कान। उनकी उसी बेरुखी से चिढ़कर हम जान–बूझकर ही उन्हें निरर्थक अभिनन्दन से और भी चिढ़ा देतीं–

"मौलाना साहेब सेलाम"–और मौलाना हमें आग्नेय दृष्टि से घूर, भस्म करते चले जाते। एक बार मौलाना लम्बी छुट्टी पर ढाका गए और जब लौटे तो पूरे आश्रम में हवा की तरह अफवाह फैल गई कि रूखे वैरागी मौलाना, ढाका से एक अपूर्व सुन्दरी बेगम लेकर लौटे हैं। देखा किसी ने भी नहीं था, किन्तु सब कसमें खाती थीं कि–हाय क्या रंग है और कैसी आम की फांक–सी आंखें ? किसी ने उनके आधे दर्जन रेशमी बुरके, रस्सी पर सूखते देख लिए थे, और किसी ने दरवाजे की दरार से कूड़ा, फेंकने को बाहर निकली उनकी हरी ऊदी चूड़ियों से भरी सन्दली कलाई। अब हमें भला बिना उन्हें देखे खाना कैसे पच सकता था ? कई बार दुःसाहसी ताक–झांक भी चली, किन्तु बुरका तो दूर एक जनाना रूमाल भी हमें रस्सी पर सूखता दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

अब ?

अन्त में बिल्ली के गले में घण्टे बांधने का दुरूह कार्य, सदा की भांति मुझे ही सौंपा गया। मौलाना साहब के मकान के पिछवाड़े एक बड़ा–सा कूड़ेदान का ड्रम धरा रहता, उस पर चढ़कर यदि

रोशनदान से झांका जाता तो निश्चय ही ढाका की उस अनिन्द्य रूपवती ढाकेश्वरी की एक झलक जुट सकती थी; पर उस ऊंचे ड्रम पर चढ़ना भी क्या हंसी–खेल था ? खैर, किसी तरह उचककर चढ़ी, आंचल कमर में खोंसा, और लपककर रोशनदान का कांच पकड़कर झूल गई। कमरा खाली था, इधर–उधर एक–आध लुंगियां पड़ी थीं और मौलाना हाथ में झाड़ू लिए कमरा बुहार रहे थे। कुछ भय से, कुछ उनकी विचित्र वेशभूषा से, मेरे दोनों हाथ कांपे और खटाक से रोशनदान पर बंधी रस्सी टूटकर नीचे गिरी। मौलाना ने चौंककर ऊपर देखा फिर झाड़ू लेकर ही शायद मुझे पुरस्कृत करने भागे। फटाक से नीचे कूद मैं तेजी से दौड़ी और ललितमोहन बाबू के यहां बड़ी देर तक छिपी रही। मृगमरीचिका–सी उनकी सुन्दर बेगम को फिर कभी देखने का कौतूहल मुझे उकसा नहीं पाया। एक बार पूज्य (हजारीप्रसादजी) बड़े पण्डितजी ने उन्हें एक संस्कृत की साहित्यिक सभा में हदीस पर बोलने को आमन्त्रित किया तो सुखमय बाबू ने आपत्ति की थी :

"अब हम इसकी रिपोर्ट कैसे लिखेंगे ?"

"आप चिन्ता न करें," पण्डितजी ने उन्हें हंसकर आश्वस्त किया था–"मैं ही यह सब कर लूंगा।"

और फिर आठ श्लोकों में उस सभा की सरस रिपोर्ट लिखकर पण्डितजी ने उस सभा को, आश्रम के इतिहास में स्मरणीय बनाकर रख दिया था। उसका एक ही श्लोक मेरे हाथ लग पाया–

सद्यःस्नान समापनान्तर धुतप्रोदभासि काकांगना।
दीप्तिं चोरण तत्परां नवतरां टोपी वहनन्मून्ध्यंसौ।।
किंचिद्वढ़ वटप्ररोह जटिलां दाढ़ी समाभ्रेढयन्।
मौलानाऽऽदमुद्दीन साहिब वदो हदीसमाख्यातवान्।।

तुरन्त स्नान समाप्त करने के बाद अपने पंखों को झाड़ू देने से उद्‌भासित कौए की बहू की दीप्ति चुरा लेने में सदा तत्पर टोपी को सिर पर धारण किए हुए वे, थोड़ी–थोड़ी उगी हुई बरगद के वरोह के समान जटिल दाढ़ी के सहलाते हुए, मौलाना आदमुद्दीन साहेब, हदीस पर बोले !

अपने कुछ अन्य गुरुओं का उल्लेख किए बिना, 'गुरुपल्ली' का यह वर्णन मुझे अधूरा ही लग रहा है।

श्री शैलजारंजन मजूमदार, शान्तिमय घोष और इन्दिरा देवी। ये तीनों मेरे संगीत शिक्षक रह चुके हैं। शैलज़ दा का कद छोटा, रंग गोरा और हंसी किसी बालक की–सी निर्दोष थी। मैंने कभी उन्हें किसी पर बिगड़ते नहीं देखा। इसराज से गदरन सटा आंखें बन्द कर, प्रत्येक गीत को स्वयं एक बार गा हमें संगीत सिखाने की उनकी अपनी अनूठी प्रणाली थी। कभी–कभी स्वरलिपि की पुस्तिका हमारे सामने खोलकर रख देते–

"देख, ऐकेबारे सोजा नातो" (देख यह पंक्ति एकदम ऐसे सपाट स्वर में नहीं है)।

शायद यही कारण है कि इतने मनोयोग से दिया गया, इस उदार संगीत–गुरु का वह अपूर्व दान, उनकी छात्र–छात्राओं के कण्ठ में रिसकर रह गया है। उनकी कोई भी छात्रा रवीन्द्र–संगीत की किसी स्वरलिपि के प्रस्तुतीकरण में कभी सामान्य–सी त्रुटि भी नहीं कर पाएगी। शान्ति दा से गाना सीखने से भी अधिक आनन्द गाना सुनने में आता था। हाल ही में उनका गाया लांग प्लेयिंग रिकॉर्ड 'कृष्णकली आमी तारेई बोली' सुना तो तीस वर्ष पूर्व की वह संध्या स्मृतिपटल पर मुखर हो उठी, जब गुरुदेव की उपस्थिति में शान्ति दा ने यही गीत हमें सुनाया था :

कालो ? शे जे जतई
कालो होक।
देखेदी तार
कालो हरिण चोख।।

कैसा आश्चर्य है इतने वर्षों में भी उस कण्ठ का जादू अभी भी उतना ही मोहक है, उतना ही भव्य ! इंदिरा देवी, विशेष अवसरों पर गाए जाने वाले गानों के ही रिहर्सल देती थीं। श्रीमती इन्दिरा देवी चौधरानी, गुरुदेव की सगी भतीजी थीं। किसी समय वह अपने सौंदर्य के लिए पूरे बंगाल में प्रसिद्ध थीं। उनकी किसी मुगल कलाकृति–सी मुखछवि को देखकर ही गुरुदेव ने उनका नाम धरा था 'बीबी'। लम्बोतरा चेहरा, जिसके दिव्य सौंदर्य को वयस की झुर्रियां भी मलिन नहीं कर पाई थीं, पत्तियों में सजे, विरल केश और ऐसे–ऐसे जरीदार पाड़ की शान्तिपुरी साड़ियां कि उनके किनारों में डूब हम गाना भी भूल जातीं। एक हाथ की हथेली घुटने पर उल्टी धर, वे दूसरे हाथ से ताल देतीं, हमें आड़े–टेढ़े की महिमा समझातीं–ताल में यह त्रिताल का गोत्र होकर भी, सदा आड़ा चलता है, ब्राह्मसंगीत के गाम्भीर्य को यह किस सुन्दरता से उभारता है आदि–आदि। ब्राह्मसंगीत के साथ ध्रुपद का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है, कहीं पढ़ा था कि ब्राह्मसंगीत को यदि विश्वसंगीत कहा जाए तो अत्युक्ति नहीं होगी। महर्षि देवेन्द्रनाथ के समय से ही अधिकांश ब्राह्मसंगीत की रचनाएं ध्रुपद अंग की रही हैं, गुरुदेव ने, दीनू दा ने अनेक गीतों को ध्रुपद में ही संवारा है। ताल देती इन्दिरा देवी उन्हीं गीतों को सिखाती–गाती भाव–विभोर हो जातीं–

तारे आरती करे
चन्द्र तपन
देव मानव वन्दे चरण–

या फिर—

जा हारिये जाय
ता आगले बशे
रईबे-कत आर—

रवीन्द्र—संगीत के अतिरिक्त, हिन्दुस्तानी पद्धति की संगीत शिक्षा की भी व्यवस्था थी। नृत्य में भी मनीपुरी कथकली नृत्य के कुशल शिक्षक थे। शान्ति दा ने, सीलोन जाकर कैण्डी का नृत्य ही नहीं सीखा, कई बार आश्रम के विभिन्न उत्सवों में कोई प्रदर्शन भी किया। इसी प्रकार मृणालिनी स्वामीनाथन (साराभाई) ने जावा नृत्य के कई नवीन प्रयोग कर गुरुदेव की अनेक नृत्यनाटिकाओं को और भी मनमोहक बना दिया। कत्थक नृत्य का प्रथम प्रयोग किया था आश्रम में नई—नई आई छात्रा आशा ओझा ने। उनका कत्थक शैली में प्रस्तुत किया गया 'माया वन विहारिणी हरिणी—गहन स्वप्नसंचारिणी' नृत्य बहुत सराहा गया था।

इन विभिन्न नाटकों के लिए कलाभवन में एक बड़े—से बक्से में भांति—भांति की रेशमी पोशाकें रहतीं—मुकुट, कुण्डल, घुंघरू आदि। सज्जा करतीं कभी गौरी दी (श्री नन्दलाल बाबू की बड़ी पुत्री), कभी हीरेन्द्र दा और कभी स्वयं मास्टर मोशाय (श्री नन्दलाल बसु)। एक बार पठान की भूमिका में अवतरित मेरी चचेरी बहिन मोहिनी का ऐसा सुन्दर मेकअप हुआ कि मैं भी उसे नहीं पहचान पाई। एक तो उसका ऊंचा कद, लपटें—सी मारता रोहिल्ला पठान का—सा ही गौर वर्ण, खड्ग के धार—सी तीखी नासिका को बहुत कुशल मेकअपमैन की आवश्यकता भी नहीं थी—पर मास्टर मोशाय और मासोजी ने तूलिका पकड़ी तो सोने में सुहागा मिल गया। वह स्टेज पर आई तो पूरा सिन्हा—सदन एक फुसफुसाहट से गूंज उठा—कौन होगा जी—लगता है बोलपुर

से किसी पठान को ही पकड़ लाए हैं ! इन नाटक के पात्रों को नाटक समाप्त होने पर अच्छी—खासी दावत भी मिलती थी, दावत देती थीं किचन अध्यक्षा—सरोजिनी देवी। अपने बगल में छिपाई गई रसगुल्लों की हंड़िया से रसगुल्ले निकाल—निकालकर वे उनको थालियों में डालतीं और 'वाल्मीकि प्रतिभा' नाटक में उनके अभिनय की प्रशंसा के पुल बांध देतीं—सुशीला तो सचमुच ही लक्ष्मी लग रही थी और सरस्वती बनी प्रतिमा सेन राय—''आहा, की मानिए छिलो रे''—वह कहतीं और उसकी थाली में दो रसगुल्ले और डाल देतीं। अन्नपूर्णा—सी सरोजिनी दी को उनके छात्र कभी नहीं भूलेंगे। आश्रम से उनका भी सम्बन्ध बहुत पुराना था। एक—मात्र पुत्र रोमेन की आकस्मिक मृत्यु हो गई और वे बालिका पुत्र—वधू रानू को लेकर श्रीनिकेतन से, शान्तिनिकेतन आ गई थीं। गुरुदेव ने उनकी नियुक्ति भोजनालय की अध्यक्षा के रूप में कर दी जिससे आश्रम के असंख्य छात्र—छात्राओं को खिलाती, देखभाल करती हुई सरोजिनी दी, अपने पुत्रशोक को भुला सकें। कुछ ही माह बाद उनकी पौत्री 'स्मृति' ने जन्म लिया। पांच वर्ष की होकर वह भी एक बैलगाड़ी के नीचे दबकर जाती रही। सरोजिनी दी, शोक से पागल—सी हो गई थीं पर फिर भी उन्होंने गुरुदेव को सौंपे गए कार्य की कभी अवहेलना नहीं की। एक—एक छात्र के पास जाकर देखतीं—किसे क्या चाहिए, परिवेशन में त्रुटि देखतीं, तो स्वयं दाल परोसने लगतीं या भागकर सब्जी ले आतीं। कोई बीमार पड़ता तो भागी—भागी देखने जातीं, कभी खिचड़ी भेज रही हैं तो कभी दलिया। अप्रैल और मई के महीने, आश्रम—जीवन के सबसे भयंकर महीने लगते। ऐसी गर्म हवा चलती कि कान सनसना जाते, नलों का गुनगुना पानी प्यास लगने पर भी नहीं पिया जाता। सरोजिनी दी ने जाने कहां से नींबू मंगवाकर नाद भरकर शरबत बनवा देतीं, 'धूप में मत जाना', 'आते ही पानी मत पीना' आदि हिदायतें देती रहतीं। लगता जैसे हम घर में ही बैठे

हैं और स्वयं मां ही हमारी देखभाल कर रही हैं।

एक सुखी सम्मिलित परिवार था आश्रम, जिसका एक–एक सदस्य एक–दूसरे से रक्त–मांस की डोर में बंधा था। छात्र–छात्राओं की संख्या कम नहीं थी पर सब एक–दूसरे से घनिष्ठ भाव से परिचित थे। कभी–कभी आश्चर्य होता है कि जहां देश–विदेश के असंख्य छात्र–छात्रागण, शिक्षा पा रहे थे वहां देश, जाति या ऊंच–नीच की कभी कोई जटिलता ही उत्पन्न नहीं हुई। गेरुआ वसनधारी, सिर–मुंडे बौद्ध छात्रों की कभी हंसी नहीं उड़ाई गई, पैरों में खड़ाऊं और लम्बी चुटियाधारी 'विद्या भवन' के स्नातकों को लेकर कभी कोई भद्दी छींटाकशी नहीं हुई। जिस महिमामय व्यक्ति की उदार छाया में आश्रम पल्लवित हुआ था, वही छाया दिन–रात आश्रम की प्रहरी बनी रहती। कुछ वर्षों तक, श्री बलराज साहनी भी हमारे अध्यापक रहे, उनकी अंग्रेजी कक्षा में, उनके एक–से–एक मौलिक प्रयोग चलते रहते। कभी–कभी हमें किसी अखबार का सम्पादकीय थमाकर कहते 'इसे संक्षिप्तकर अपनी भाषा में लिखकर अभी मुझे दिखाना होगा।' कभी कक्षा में ही अपनी किसी नई कहानी का कथानक सुनाने लगते। उनकी पत्नी, दमयन्ती दी हमारे छात्रावास में रहती थीं। ऐसा सुन्दर आनन्दी चेहरा, जीवन में फिर कभी देखने को नहीं मिला। हमसे वयस में बड़ी होने पर भी उनका अधिकांश समय हमारे ही कमरों में बीतता। गोरा रंग, बहुत ही घुंघराले केश और तीखी नाक। आंखें हमेशा कांच की गोलियों–सी चमकती रहतीं। उन दिनों पंजाबी लड़कियां, एक ही रंग के रेशमी सूट पहना करती थीं, गहरे रंग की रेशमी सलवार, वैसे ही कमीज और कड़े कलफ किए गए अबरकी दुपट्टे की चुन्नटों को अपनी सुराहीदार गरदन में लपेटती दमयन्ती दी आंधी की तरह मेरे कमरे में घुस आतीं। मेरी, हाथ की पुस्तक खींच नीचे पटक कहतीं—"ए पढ़ाकू लड़की, ये रात क्या पढ़ने के लिए है, चल ढोलक ले आ कहीं से—मजे

से महफिल जमायी जाएगी।"

बस फिर क्या था, देखते–ही–देखते हम हिन्दीभाषी छात्राओं के दल–बल को, वे अपने तीखे कण्ठ और ढोलक की पेशेवर थपेड़ों से हैमलिन के पाइड–पाइपर की ही भांति मेरे कमरे में खींच लातीं। अंगूरी दुपट्टे को वह सिर पर बांधे साफे की–सी गांठ देकर लटका लेतीं, कानों में चेरी गुच्छे–से झूलते उनके लाल मोतियों के बुन्दे कण्ठ में पड़ी वैसी ही गुरियों की दुहरी माला गाने के आरोह–अवरोह के साथ–साथ उठ–उठकर मोहक तरंगों में गिरती रहती। उस चेहरे का आकर्षण, किसी किशोर सुदर्शन राजकुंवर के चेहरे का–सा आकर्षण था। ढोलक को अपनी सुडौल टांग के नीचे दाब वह एक धमाके की थपेड़ लगाकर गातीं—

अद्धी राती—
चन्न तारे
परशु प्यारा अंख मारे
परशुरामा मत्था सड़ेया—
दिल मेरा जीता तैने—

आज वह आनन्दी दमयन्ती दी नहीं रहीं—किन्तु कभी–कभी ढोलक की विस्मृत थपेड़ की स्मृति मुझे वर्षों पूर्व की उस रसीली महफिल की ओर खींचने लगती है।

क्षितिश दा भी हमारे एक ऐसे ही आनन्दी प्रोफेसर थे। स्कूल में उन्होंने हमें कभी अंग्रेजी पढ़ाई थी और कभी व्याकरण, कॉलेज में फिर वे हमारी अंग्रेजी की कक्षा लेते थे। पिकनिक में, गाने में, चुटकले सुनाने में, क्षितिश दा बेजोड़ थे। उनका आकर्षक व्यक्तित्व, टेढ़ी लगाई उनकी 'बैरे' या कभी–कभार पहनी गई खद्दर की शेरवानी में और भी निखर आता था। सहभोज के अन्त में, उन दिनों 'लागलो कैमोन ?" (कैसा लगा ?) चीखकर पूछने का एक नियम–सा ही बन गया था, फिर समवेत कण्ठ में, उसी

चीख में छात्र–छात्राएं अपना उत्तर देतीं–

"बेश" (बहुत अच्छा)।

"लागलो कैमोन ?" को उच्च कण्ठस्वर की तोप में, बारूदी गोला बनाकर दागने का काम हमेशा शितिश दा को ही सौंपा जाता। बांग्ला गीतों के अतिरिक्त उनका मांसल कण्ठस्वर, अंग्रेजी के लोकप्रिय गीतों को भी बड़ी खूबी से प्रस्तुत करता था। प्रायः ही पिकनिक से लौटती भीड़ का अगुवा बने हमारे वह बांके अध्यापक गुरु–गम्भीर कण्ठ को और भी गम्भीर बनाकर गाते–

वीप नो मोर माई लेडी
ओ वीप नो मोर दुडे
वी विल सिंग ए सांग
फ़ॉर द ओल्ड
कैनटकीं होम
ओल्ड कैनटकी
फार अवे।

गुरुदयाल मल्लिक भी हमारे अंग्रेजी के अध्यापक थे किन्तु अध्यापक के अतिरिक्त वे हमारे चाचाजी भी थे। उनकी भतीजी हमारे साथ पढ़ती थी। सफेद भव्य दाढ़ी स्नेह से छलकती बहुत ही बड़ी–बड़ी आंखें और अनूठे तेज से दमकता प्रशस्त ललाट। आश्रम के कल्पतरु थे गुरुदयाल मल्लिक, जिनकी ठण्डी छांव में न जाने कितने छात्र–छात्राओं ने, सुस्ताकर मनचाही मनौतियां मांग ली थीं। मुझे उनका स्मरण करते ही अपनी एक मूर्खता का भी बरबस स्मरण हो आता है। मैं तब इण्टर की छात्रा थी। उन दिनों आश्रम कलकत्ता विश्वविद्यालय का ही सम्भाग था और हमें परीक्षा देने विद्यासागर कॉलेज जाना पड़ता था। सुन्दरी संध्या से, मेरा परिचय वहीं हुआ। सन्ध्या को विधाता ने अपनी विलक्षण

रूप–शलाका से ही नहीं छुआ, लक्ष्मी एवं सरस्वती भी उसकी दोनों बांह पकड़, परीक्षाकेन्द्र तक, पहुंचा जाती थीं। ज्यामिति के समस्त दुरूह साध्य उसके जिह्वाग्र पर रहते और समय से पूर्व ही वह परचा निबटा, पल्ला झाड़कर बैठ जाती। उसकी बड़ी बहन रांगा दी, जो कलकत्ते के एक लक्षाधिपति मारवाड़ी व्यवसायी की पत्नी थीं, उसे पहुंचाने आतीं। एक लम्बी मोटर गाड़ी में और लेने दूसरी में। संध्या की एड़ी तक झूलती किसी दादुर को उदरस्थ कर गई सर्पिणी–सी पृथुल वेणी थी और गौर वर्ण था–ऐसा निर्मल कि न कहीं एक झाँई न एक धब्बा। उसने अपना अनुभूत नुस्खा भी हमें थमा दिया : "बर्मा में सबकी ऐसी ही चिकनी चमड़ी रहती है, चन्दन का लेप जो करती हैं हम।" बस फिर क्या था, आश्रम की किसी भी छात्रा के कपोल, शायद मलय–स्पर्श से वंचित नहीं रहे।

संध्या के पिता, वर्मा के प्रसिद्ध उद्योगपति थे जिनकी कई चावल की मिलें थीं। इसी से शायद उनकी पुत्री भी थी असली हंसराज बासमती का दाना–वैसी ही लम्बी नाजुक सफेद और खुशबूदार ! वह वर्मा चली गई और चलते–चलते मुझे अपना एक सुन्दर चित्र थमा गई–"यह तुम्हें हमारी क्षणिक सुखद मैत्री का स्मरण दिलाता रहेगा," उसने कहा था; किन्तु शायद वह नहीं जानती थी कि उसका वही चित्र, एक दिन मेरे लिए बहुत बड़ी विपत्ति को बैठे–बिठाए न्यौता देगा।

उन दिनों आश्रम के नियम हमारे लिए आवश्यकता से कुछ अधिक कठोर कर दिए गए थे। सुदूर अफ्रीका से आई एकदम विदेशी ठप्पे के उदार वातावरण में पली, एक छात्रा ने अपने एक मुस्लिम सहपाठी को, सात पृष्ठ का प्रेमपत्र लिख मारा था, और हमारी अनपढ़ मूर्खा नौकरानी, उसे हमारी फ्रेंच वार्डेन को थमा आई थी। दण्ड भुगतना पड़ा पूरे 'श्रीभवन' को। पांच बजे ही

हाजिरी लेकर, हमें कठोर कपाटों में मूंद दिया जाता। सगा भाई भी मिलने आता, तब भी फ्रेंच दीदी स्वयं दो–तीन बार आकर झांक जातीं। एक दिन, उसी उबान–भरी दोपहरी के नीरस क्षणों में हमारी सर्वनाशी योजना का सूत्रपात हुआ था। उन दिनों आश्रम की छात्राओं में, बहुत–सी लड़कियां लरकाना, लाहौर और कराची की थीं, जिनके पास नियमित रूप से 'ट्रिब्यून' आया करता था। एक तो वह अत्यन्त लोकप्रिय समाचारपत्र था, उस पर उन दिनों उसमें, कराची के एक प्रसिद्ध डॉक्टर पर चल रहे विचित्र मुकद्दमे की, किसी रोमांचकारी उपन्यास की–सी ही रोचक धारावाहिक किस्तें निकल रही थीं, पत्र आते ही छीना–झपटी होने लगती और उसी लपदप में हाथ लगी एक कतरन ने हमारे दुष्ट ग्रहों को भी न्यौत दिया।

कतरन एक विवाह के विज्ञापन की थी। आवश्यकता थी–एक विदेश में शिक्षित राजपुत्र के लिए, एक सुन्दरी कान्वेण्ट शिक्षिता कन्या की, दान–दहेज कुलगोत्र का कोई बन्धन नहीं, केवल सौन्दर्य को ही प्राथमिकता देने की गर्वपूर्ण घोषणा थी।

क्यों न इस धृष्ट विज्ञापन का एक करारा धृष्ट उत्तर दे दिया जाए ? एक तो उस जेल की मनहूसी कुछ दूर होगी, दूसरे उस अहंवादी राजपुत्र को भी उचित सबक सिखा दिया जाएगा।

गदहपचीसी की बयार ऐसी तेज बही कि हमें उड़ा ले गई। कमरा बन्दकर, हम अपनी बचकानी योजना में जुट गईं। पत्र लिखने का काम मुझे सौंपा गया। भाषा संवारने में मेरी मुख्य सहायिका थीं कमला मल्लिक, श्री गुरुदयाल मल्लिक की भतीजी। कमला का, आंग्ल भाषा पर असाधारण अधिकार था। कराची कान्वेण्ट के अनोखे मुलम्मे का लोहा आश्रम का दबंग–से–दबंग छात्र भी मान चुका था।

उस पत्र की, आज मैं क्या प्रशंसा करूं ! मैं तो सोचती

हूं, वह मेरी सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक कृति थी। पत्र लिखा गया था किसी काल्पनिक विधवा गंगाबाई की ओर से, किन्तु मेरी षोडशी लेखनी जैसे दवात में नहीं, स्वयं ब्रह्मा के नाभिकुंड के अमृत में डुबकी लगा, उस काल्पनिक गंगाबाई को ऐसी जीवन्त बना हमारे बीच खड़ी कर गई थी कि मेरी सखियों ने मुझे बार–बार रोककर, मेरी लेखनी चूम ली। चूंकि विज्ञापनदाता ने, अपने राजवंश की दुहाई दी थी, इसी से हमारी गंगाबाई भी न जाने किस राजसी अंतःपुर के द्वार ड्योढ़ियां भड़भड़ाती निधड़क भावी जामाता के सम्मुख खड़ी हो गई। वह एक काल्पनिक विधवा थी, किन्तु वैधव्य की विवशता का, ऐसा अनूठा चित्र खींचा गया था कि शायद विरला ही कोई ऐसा हृदयहीन राजपुत्र होता, जो विधवा रानी की पुत्री के स्वयंवर 'क्यू' में स्वयं खड़ा न हो जाता। अकेली पुत्री को पढ़ाने वह, शान्तिनिकेतन चली आई थीं, फिर थी सुन्दरी राजकन्या के रूप–गुणों की प्रशंसा ! जैसी ही भाषा वैसी ही मेल खाती मधुर शब्द–व्यंजना, विज्ञापनदाता तो क्या, यदि कोई गुणी सम्पादक भी पढ़ता तो शायद सेहरा बांधे धड़धड़ाता आश्रम चला आता। जहां तक मुझे स्मरण है–शेक्सपियर के 'ट्वैल्थ नाइट' की दो–चार नमकीन पंक्तियां भी उद्धृत की गई थीं, लग्न–पत्रिका तो तैयार थी, पर चित्र भी तो भेजना था। किसका चित्र भेजा जाए ? हममें से किसी का भी चित्र भेजा गया तो सम्भव था, पत्रवाहक कहीं चित्र लेकर ढूंढ़ता हमें पहचान लेना कि जैसा उन दिनों अधिकारियों का मूड थो, कभी भी हमारे बिस्तर बंधे सकते थे। मुझे अचानक, अपनी उस सुन्दरी प्रवासिनी के चित्र का स्मरण हो आया, उसे भेजने में कोई दोष नहीं था। वह बर्मा में थी और आश्रम में किसी ने भी उसे नहीं देखा था, फिर वह चित्र भी ऐसा था कि देखनेवाला एक बार देखने पर सहज में आंखें नहीं फेर सकता था। पत्र के साथ चित्र भी भेज दिया गया। पता था–श्रीमती गंगाबाई, श्रीभवन शान्तिनिकेतन। खूब बुद्धू

बनेंगे घमण्डी लाला, अपने चेहरे–मोहरे का तो नाम नहीं–दुल्हन लेंगे सुन्दरी कान्वेण्ट शिक्षिता मोम की डली !

खूब ठगेंगे, जब श्री भवन में कपोल–कल्पिता गंगाबाई को ढूंढ़ने चले आएंगे और हमारी फ्रेंच वार्डेन की तोतली अंग्रेजी में दी गई एक झाड़ श्रीमान् राजपुत्र को, जादुई हवाई–घोड़े पर उड़ाकर रख देगी।

दिन हंसी–खुशी और उल्लास–उमंग में कट गया, किन्तु तकिए पर सिर रखते ही सहसा एक कटु सत्य का कांटा चुभा और मैं हड़बड़ाकर उठ बैठी; वह कहीं आ गया और राजकन्या को न पाने की बौखलाहट से खीझ, वार्डेन को मेरा लिखा पत्र दिखा बैठा, तब ?

तब तो मैं ही बेमौत मरूंगी। असिस्टैण्ट वार्डेन थीं स्वयं बड़ी बहन जयन्ती, क्या वह मेरी लिखावट पहचानने पर मुझे छोड़ देंगी ? उनके अनुकरणीय आदर्श व्यवहार एवं अनुशासन के लिए स्वयं गुरुदेव ने उनका नाम धरा था–'भारत माता'। मुझ–जैसे विभीषण को, कान पकड़कर आश्रम की लंका से निष्कासित कर देने में भारत माता को तनिक भी संकोच नहीं होगा, यह मैं खूब समझती थी। अब क्या होगा ? पांचों चेहरे सफेद पड़ गए। होस्टल की सर्वभक्षी क्षुधा, न जाने कहां भाग गई ! न भूख न प्यास, ओने–कोने में दुबकी हम बंगाल के 'टेररिस्ट' दल की सदस्याओं की–सी ही प्राणघाती व्यर्थ योजनाएं बनाने लगीं, जैसे भी हो–अब किसी विलक्षण योजना के अचूक देशी हथगोले से, उस अनजानी दिश से आ रहे विदेशी लाट साहब को ठण्डा करना होगा।

छठे ही दिन पत्र का उत्तर आया और हमारे हाथ–पैर ठण्डे पड़ गए। पत्र छांटकर, वार्डेन स्वयं वहीं खड़ी रहती थीं।

"यह गंगाबाई कौन है जी ?" उन्होंने पूछा–"मैं हूं।" कमला

ने आगे बढ़कर पत्र थाम लिया, 'मुझे घर में इसी नाम से पुकारते हैं।"

पिछले पांच दिनों से, वह अपना यही उत्तर रट रही थी।

सात कपाट मूंदकर पत्र पढ़ा गया। चित्र का निशाना ठीक लगा था। "मुझे आपकी कन्या पसंद है, कलकत्ते के ग्रैण्ड होटल में टिका हूं, परसों बात पक्की करने पहुंच रहा हूं"–इतना पढ़ते ही दो धड़कते कलेजे मुंह को आ गए। एक मेरा और दूसरा स्वयं राजमाता गंगाबाई का। चाहे हम अपने विप्लवी दल की अन्य सदस्याओं के नाम न बतलाएं, पर भाग्य किसी क्रूर कोतवाल की भांति, हम दोनों की ओर, हाथ में हथकड़ियां लिए, सुदृढ़ कदमों से बढ़ा चला आ रहा था। इसमें क्या अब कोई संशय रह गया था ?

"एक ही उपाय है अब," कमला ने कहा, "चाचाजी को जाकर सब बतला दें, एक वे ही हमें बचा सकते हैं।"

जब सूखे पत्ते से चेहरे लटकाए हम उनके पास पहुंची तो सदा मन की भाषा पढ़ लेने वाला, वह अनोखा जादूगर मुसकराने लगा–

"क्यों, किसी शैतानी में पकड़ी गई हो ना ? तभी याद आई है इस बूढ़े की !"

हमारी दुःखगाथा सुनकर, पहले वे बड़ी जोर से हंसे। फिर एकाएक गम्भीर हो गए !

गुरुदेव का मूड तो उन दिनों बहुत सुविधा का नहीं था फिर अपराधिनियों में एक थी स्वयं उनकी भतीजी, दूसरी वार्डेन की छोटी बहन !

"लाओ, देखूं तो उसका पत्र।"

उन्होंने पत्र पढ़ा और जेब में क्या डाला कि हमारे पांचों धड़कते कलेजे भी जैसे जेब में डाल लिए।

"जाओ, भाग जाओ बेवकूफ लड़कियो," वे बोले, "तुम्हारा भाग्य अच्छा है जो मैं इस लड़के को ही नहीं, इसके पिता को भी जानता हूं। यह ऐसा खानदान है, जिससे मजाक किया नहीं जाता। मैं अभी ग्रैण्ड होटल को फोन कर, उन्हें तुम्हारी मूर्खता बताकर खुद माफी मांग लूंगा। निश्चिन्त होकर सो रहो, गंगाबाई की पुत्री को देखने अब कोई नहीं आएगा ...."

ऐसे ही न जाने कितनी बार कितने ही छात्र–छात्राओं को आश्रम के उस शिवि ने शरण दी थी। बुधवार की प्रार्थना–सभा में प्रायः ही मल्लिक जी अपना प्रिय भजन हमें सुनाते—

तब शरणाई आयो
आयो मेरे ठाकुर।

ऐसी बुलन्द आवाज, कि प्रार्थना–सभा में जड़े रंगीन कांच भी थर्रा उठते। गाते–गाते उनकी आंखों से आंसू झरने लगते, गला रुंध जाता और वे स्वयं भी भूल जाते कि वे गा रहे हैं। उपेन्द्र दा बांग्ला के शिक्षक थे किंतु आश्रम की छात्र मण्डली में उनकी लोकप्रियता भी कुछ कम न थी। जर्मन प्रोफेसर डॉ॰ ऐलेक्स ऐरनसन मार्जरी साइक्स हमारी अंग्रेजी की कक्षाएं लेते थे। ऐरन दा, सफेद ढीला पायजामा और कुर्ता पहन कभी–कभी चंदन का टीका भी लगा लेते थे। वैसे उन्हें गुस्सा बहुत कम आता था, पर एक बार वे हमारी अंग्रेजी ऑनर्स की कक्षा ले रहे थे तो वामन ने जेब से निकाल कर 'हेले सांप' बीच कक्षा में छोड़ दिया। 'हेले सांप' के लिए कहा जाता है कि काटने पर भी उसका विष नहीं चढ़ता, पर लाख विष न चढ़े, सांप तो सांप ही है। देखने में गहरे हरे रंग की उस सांप की काया इतनी निर्दोष नहीं लगती। डॉ॰ ऐरनसन हमें शेक्सपियर पढ़ा रहे थे, शेक्सपियर पढ़ाने में उनकी

तुलना किसी अन्य अध्यापक से हो ही नहीं सकती थी। एक–एक पंक्ति को, समझाने ही में कभी उनका पूरा पीरियड खत्म हो जाता—घूम–घूमकर, झूम चक्कर लगा, कभी अपनी गहरी नीली आंखें गोल घुमा, कभी सुनहरे बालों को मुट्ठी में दबा वे उत्तेजित होकर समझा रहे थे—"If music be the food of love-play on—" ठीक तब ही दाल भात में मूसरचन्द बना, वामन घोष की जेब से निकला वह बौखलाया हेले सांप, शेक्सपियर को दूर ठेल हमारे बीच से सरसराता निकल गया।

ऐरन दा ने एक ऊंची छलांग लगाई, हाथ की पुस्तक नीचे गिर गई और उनका लाल चेहरा गुस्से से तमतमाकर बीरबहूटी बन गया। किसने यह शैतानी की थी, समझने में उन्हें देर नहीं लगी। लपककर उन्होंने बित्तेभर के वामन की गरदन पकड़ ली—'यू रैस्कल, यू मिजेट" और फिर दो–चार बार उसे झकझोर कर उन्होंने छोड़ दिया और अपनी लम्बी–लम्बी टांगें बढ़ाते, बिना पढ़ाए ही चले गए। सांप, उनकी दुर्बलता था, एक तो आश्रम में वैसे भी सांप बहुत निकलते थे, फिर ऐरन दा प्रायः ही हमसे कहा करते थे—"सांप देखकर मुझे न जाने कैसा हो जाता है—ओफ, ऐसी भयंकर चीज और कोई नहीं होती।" दुष्ट वामन ने जान–बूझकर ही उस दिन उन्हें डराने को वह सांप छोड़ दिया था।

आश्रम के पर्व

गुरुदेव को वैतालिक करवाने का बड़ा शौक था। चांदनी रात है, फाल्गुनी पूर्णिमा से धुलकर आश्रम झकझक चमक रहा है। प्रकृति ने ऐसी सुन्दर सौगात भेजी है और यह कैसे हो सकता है कि आश्रमवासी स्वीकृति भी न दें। सूचना आती है कि सब आश्रमवासी घण्टा तले एकत्रित हो जाएं। रात्रि का खाना–पीना खाकर सब चले आ रहे हैं। उस विचित्र दल में सब सम्मिलित हो गए हैं, हमारे छात्रावास की नौकरानी खुदु भी हैं और नानीबाला भी; रसोईघर का रसोइया नगेन्द्र भी है–जिसकी काली पॉलिश की गई–सी देह पंचदशी की धौत चन्द्रिका में और भी काली लग रही है, शिक्षा–भवन, कला--भवन और संगीत–भवन के छात्र–छात्राएं सब हैं। लगता है--गाती–बजाती किसी की बारात चली जा रही है। गाना है–

फागुनेर पूर्णिमा
एल कार लिपि हाथे–

फागुन की पूर्णिमा, आज किसकी लिपि लेकर आई है ? पूरे आश्रम की परिक्रमा कर दल एक बार उत्तरायण तक अवश्य जाता है। आश्रम–गुरु की वाणी उनके प्रिय आश्रमवासियों के शत–शत कण्ठों में मुखरित हो, उन्हीं तक पहुंचती है। उस दल में और कोई हो न हो, हमारा संगीतरसिक बिहारी रसोइया सरजू अवश्य रहता। आश्रम में दक्षिण की कुछ लड़कियों को भोजन–सम्बन्धी असुविधा हुई। एक छात्रा लक्ष्मी कान्तम्मा रेड्डी अपने साथ एक

दक्षिण रसोइये 'चेल्लम' को नीलोर से ले आईं। दक्षिणी छात्राओं को जब 'रसम', 'साम्बर' और 'उपमा' उपलब्ध हो गई तो अन्य प्रदेशी छात्र–छात्राएं पीछे कैसे रह सकती थीं? देखते–ही देखते गुजराती, सिंहली और चीनी मेस भी बन गए। उत्तर प्रदेश का कोई भी रसोइया उतनी दूर आने को तैयार नहीं हुआ, तभी हमें मिल गए सरजू महाराज! सरजू छपरा का रहने वाला था, अब हमारे लिए भी अरहर की दाल और बैंगन का भुरता बनने लगा। सरजू को संगीत से विशेष प्रेम था और रवीन्द्र संगीत तो आश्रम के पेड़–पत्तों में भी गूंजता था। आए--दिन रिहर्सल होते, चटपट सरजू भी एक–आध पंक्ति सीख लेता, पर रवीन्द्र संगीत में उसने कुछ सर्वथा नवीन प्रयोग किए थे, जैसे–

पागला हावार बादल दिने रामा
पागला आमार मन जेगे उठें–

हर पंक्ति में वह 'रामा' अवश्य जोड़ देता। कभी भी किसी नाटक की सूचना मिलती तो वह पांच ही बजे रात का खाना बनाकर रख देता और प्रायः ही हम देखते कि दर्शक–मण्डली के बीच, सिर पर लाल गमछा बांधे सरजू महाराज बड़ी शान से मुसकरा रहे हैं। 'चित्रांगदा' हो या 'चण्डालिका,' 'मायेरखेला' हो या 'ताशे देशर,' स्वयं गुरुदेव उसकी संचालना करते। चमकते लाल फर्श पर घुंघरू बज उठते। दक्षिण के नृत्य–गुरु केलू दा (केलू नायर) को पहले एक–एक गीत का भावार्थ समझाते स्वयं गुरुदेव, जिससे एक–एक पंक्ति उनके नृत्य में मुखर हो उठे। जिन्होंने केलू नायर को, "जल दाओ आमाय जल दाओ" कहकर बूड़ी दी (श्रीमती नन्दिता कृपलानी) से जल मांगते देखा है, वे ही समझ सकते हैं कि गुरुदेव की कविता नृत्य में कैसे सजीव हो उठती थी। प्यास से व्याकुल उस पथिक की तृष्णा, सचमुच ही दर्शकों तक को व्याकुल कर उठती थी। ऐसे ही, कुएं से पानी खींचती बड़ी दी क्षण–भर को स्वयं अपने को भी भूल जातीं, सीमेण्ट का निर्जीव

मंच जीवन्त हो उठता, शून्य दृष्टि से इधर–उधर देखतीं वह काल्पनिक कुएं में रसरी डाल देतीं--रिक्त हाथों में जैसे रसरी सर--सराने लगती और कुएं से पानी खींच जलदान देती बूढ़ी दी अपने पितामह के संगीत–नाट्य को धन्य कर देतीं। उनकी बड़ी–बड़ी आंखें, गोरा रंग, छोटी–सी नाक और हिचकियां–सी लेती मीठी हंसी का ठहाका, आज भी याद करती हूं तो कलेजे में टीस–सी उठती है। 'ठाकुर–बाड़ी' की सुन्दरी ठाकुर दुहिताओं का नाम सार्थक किया था उन्होंने, आश्रम का कोई भी नाटक, क्या कभी उनके बिना सम्पूर्ण कहला सकता था? मैं एक बार उनके साथ गुरुदेव को लेकर अल्मोड़ा गई हूं, उस बार अल्मोड़ा–यात्रा से पूर्व, उनके साथ 'जोड़ासांको' के विराट् जमींदारी महल में भी दो दिन रही भी हूं और तब मैंने देखा था कि गुरुदेव का अपनी उस पौत्री पर कितना स्नेह था। गुरुदेव की यात्रा का आयोजन, किसी राज्यपाल की पहाड़–यात्रा के आयोजन से कुछ कम नहीं होता था। उस बार, हमारी पार्टी में स्वयं गुरुदेव थे, बूड़ी दी थीं, उनकी मां गुरुदेव की पौत्री मीरा दी थीं और थे गुरुदेव के सचिव अन्नदा बाबू। बड़ी रात तक, बूढ़ी दी ने गुरुदेव के गरम–ठण्डे चोगे, पुस्तकें, पेण्ट, ब्रश, आदि रखे और फिर मुझे पूरा 'जोड़ासांको' दिखाने ले गई थीं--लोहे की टेढ़ी–मेढ़ी सीढ़ियों पर चढ़ते–उतरते, बड़े--बड़े कमरों की परिक्रमा करते पैर दुख गए थे। फिर बरामदे में ही एक खिड़की पर बैठ, बूड़ी दी ने अपनी मीठी आवाज में मुझे वह गाना सुनाया था जो गुरुदेव ने कभी 'रामगढ़' में एक पहाड़ी ग्वाले की वंशीधुन से अनुप्राणित होकर लिखा था–

दूर देशी शेई
राखाल छेले–

दोनों पैरों का झूला–सा झुलाती, गा रही बूढ़ी दी की बुलन्द

आवाज, 'जोड़ासांको' की दीवारों से टकरा–टकराकर गूंज रही थी–ऊदी धनेरवाली डोरिया साड़ी, कमर में आंचल का फेंटा और कानों में झूल रहे सोने के बड़े–बड़े कानपाशा–तब कौन कह सकता था, कि यही उत्फुल्ल सुन्दर मुखमण्डल, एक दिन असाध्य रोग की स्याही से मलिन पड़ जाएगा! उनके पति श्रीकृष्ण कृपलानी साहित्य अकादेमी के सचिव बनकर दिल्ली चले गए थे, उनका सुन्दर बंगला 'मालंच', जहां कितनी ही बार हमने आमोद–भरी संध्याएं बिताई थीं, अब सूना था–और स्वयं बूड़ी दी कैंसरग्रस्त होकर मृत्यु–शय्या पर पड़ी थीं। मैं किसी काम से दिल्ली गई और उनसे मिलने अस्पताल पहुंची तो अस्पताल के नियमानुसार मुझे उनसे मिलने नहीं दिया गया। "पांच बजे से पहले आप नहीं मिल पाएंगी।"

मुझे उसी दिन लौटना था, मैं भारी मन से लौट आई, काश! गुरुदेव की वह पंक्ति सत्य हो जाती–

द्वारे एशे गैले फिरे
परशने द्वार जेतो खुले

द्वार तक आकर ही तुम लौट गए–पर छूने पर ही तो द्वार खुल जाता! नैनीताल जाकर मैंने उन्हें पत्र लिया, और उस अवस्था में भी पत्रोत्तर देने में उन्होंने विलम्ब नहीं किया था।

"कितना दुख हुआ कि तुम यहां तक आकर भी मुझसे नहीं मिल पाईं–तुमने लिखा है तुम आश्रम पर पुस्तक लिख रही हो। पूरी हो जाए तो मुझे अवश्य भेजना।" पूरी तो हो गई है, बूढ़ी दी, पर, जहां तुम चली हो, वहां चाहने पर भी इसे आज क्या मैं भेज सकती हूं? आज तो गुरुदेव की ही पंक्तियां बरबस होंठों पर फिसल आती हैं–

जे फूल ना फूटिते
झरे छे धरनी ते
जे नदी मरुपथे
हारालो धारा–
जानी, हे जानी, ताओ हय नी हारा

जो फूल खिलने से पहले ही मुरझाकर धरणी पर गिर गया–जो नदी मरुपथ में झटककर कहीं खो गई–जानता हूं–मैं जानता हूं, वह व्यर्थ नहीं गई–

नन्दिता दी, ममता भट्टाचार्य, हांसू, सेवा मायती, अनीता बरुआ, वनलीला भट्ट, स्त्री (ली गौतमी)–जैसी नृत्यांगनाओं की प्रतिभाओं को चमकाने का श्रेय स्वयं गुरुदेव को था। एक बार, कटक की किसी साहित्य सभा में गुरुदेव का अभिनन्दन था। वहां एक दुबली–पतली लड़की ने, उनके सम्मुख स्वागत–गान गाया–उसका मधुर कण्ठस्वर सुनकर गुरुदेव मुग्ध हो गए। पूछने पर ज्ञात हुआ कि लड़की ने ऐसे परिवार में जन्म लिया था, जहां दो मूठ भोजन भी मुश्किल से जुटता था–संगीत–शिक्षा कैसे होती। इधर–उधर, सुन–सुनकर ही सीख लेती थी बेचारी। गुरुदेव ने सहायता का वचन दिया और कुछ ही दिनों बाद, वह आश्रम में आ गई। उसके रहने, खाने एवं कपड़ों का प्रबन्ध आश्रमिका संघ की ओर से करा दिया गया। वह संगीत भवन में रवीन्द्र संगीत, सितार और अन्य विषयों की शिक्षा पाने लगी। इसी प्रकार अन्धा छात्र कालू भी निःशुल्क शिक्षा प्राप्त करता रहा।

आश्रम में आए दिन, साहित्य सभाएं होतीं, छात्र गुरुदेव के पास जाकर घेर लेते–"आपको हमारी सभा का सभापति बनना ही होगा।" हर महीने हर भवन की एक साहित्य–सभा होती रहती और उतनी सारी सभाओं का सभापतित्व ग्रहण करना गुरुदेव के लिए संभव न होता, पर वह सबका मन रख लेते–किसी को सभा

सजाने के लिए उत्तरायण बगीचे के अनमोल गुलाब देकर और किसी को दूसरी सभा में स्वयं आगे उपस्थित रहने का आश्वासन देकर !

आश्रम में गांधी-दिवस

आश्रम में, गांधी–दिवस भी बड़े समारोह से मनाया जाता। उस दिन, आश्रम के सब नौकरों को छुट्टी दी जाती। सब काम छात्र–छात्राओं को स्वयं करना पड़ता–पहले ही दिन नोटिस बोर्ड में एक सूची टाँग दी जाती, किनको रसोई की सफाई करनी है, कौन सड़कों की सफाई की टोली में है, शौचगृह, स्नानागार, सबको दर्पण–सा चमकाया जाता। कमर में आंचल खोंसे, छात्राओं का दल सुबह से ही काम में जुट जाता, कोई आलू का पहाड़ लगाए छील रही है, कोई प्याज का मसाला पीसते–पीसते आंखें पोंछ रही है। सड़कों की सफाई अलग चल रही है। शाम को नौकरों की कबड्डी होगी, दिन–भर हंसी–खुशी और आमोद–प्रमोद में कट जाता, दूसरे दिन किसी की अंगुली पर पट्टी बंधी होती, किसी का पैर लंगड़ाता किन्तु किसी को भी पिछले दिन की थकान–भरी दिनचर्या के लिए शिकायत नहीं रहती।

कुछ महत्त्वपूर्ण उत्सव

आश्रम के सब उत्सवों में, महत्त्वपूर्ण तिथि थी सातवीं पौष। कुछ दिन पहले से ही बैलगाड़ियों में लद–लदकर बड़ी–बड़ी चरखियां, जिन्हें हम 'नागरदोला' कहते थे, आने लगतीं। चूड़ियों की दूकानें, मिट्टी के बरतन, श्रीनिकेतन की साड़ियां, खिलौने, संथाल गहनों का अनमोल खजाना लेकर संथाली आ जुटते और 'टाटा भवन' तक बाजार फैल जाता। चार दिन की छुट्टी की घोषणा हो जाती। दूर–दूर से लोग चले आते, प्राक्तन छात्र–छात्राएं, अभिभावक और अनेक सम्मानित अतिथि, लड़कियों की टोली बना दी जाती। कुछ अतिथियों को आश्रम घुमातीं, दर्शनीय स्थल दिखाने ले जातीं, कुछ उनके भोजन के समय उपस्थित रहकर, उन्हें परिवेशान्त करतीं। हमारे छात्रावास का एक बड़ा कमरा खाली कर, फूस बिछा दी जाती और पूरे आश्रम में इस उत्सव का आनन्द छा जाता।

पहले–पहले, कलकत्ते से आई समृद्ध महिलाओं को, उस फूस बिछे बिस्तरे में सोने में कुछ असुविधा भी होती, पर उन्हें भी उसी में आनंद आने लगता। सातवीं पौष की उपासना स्वयं गुरुदेव कराते, आल्पना देतीं गौरी दी और उनकी सीनियर छात्राएं। मेले की धूम का कहना ही क्या ? वर्ष में एक दिन तो पान खाने को मिलता, फिर भला क्यों चूका जाता ! पान से होंठ लाल हैं, हाथ में एक छड़ी है। कोई नागरदोला की चर्खियों का आनन्द ले रही है तो कोई सन्थाल गहनों की दूकान पर टूटी पड़ रही है। ढोल के आकार के जंजीरों से भरे भारी संथाल बुन्दों

की बिक्री ही उस मेले में अधिक होती। कोई भी छात्रा ऐसी न होती, जिसके कानों में एक जोड़ी संथाली बुन्दे शोभा न दे रहे हो। कान हैं कि भारी चांदी के भार से टूटे जा रहे हैं, पर चेहरे पर शिकन नहीं। कोई मिट्टी के बरतन खरीद रही है, किसी ने 'लबाद' (खजूर का गुड़) की चौड़ी टिकिया खरीद ली है। एक ओर कुछ छात्राओं ने मिठाई–नमकीन का एक स्टॉल खोल लिया है, मेनू को चित्ररूप में अंकित किया है जया अप्पास्वामी ने। स्वयं बूड़ी दी आलू के कटलेट तल रही हैं, गुजराती छात्राओं ने स्वादिष्ट गुजराती व्यंजन बनाए हैं और दक्षिणी छात्राओं की इटली, डोसे और गोले की चटनी पटापट बिक रही है। इसी मेले में सर अकबर हैदरी हमारे इसी स्टॉल में आए और हमने एक समोसा, उन्हें दस रुपए में बेचा तो हंसकर बोले—"अच्छा है, तुम्हारी इस दूकान में सोहन हलुआ नहीं बिकता, नहीं तो शायद जेब में पैसे भी नहीं रहते दाम चुकाने को।" इसी स्टॉल के सामने, आश्रम की चाय की दुकान के मालिक कालू की भी छोटी–सी दूकान लगी थी, बेचारा दूसरे दिन, रुआंसा होकर हमारे सामने हाथ जोड़कर खड़ा हो गया था—"दीदीमनी, आपनारा चायरे दोकान खुलले आमी की बांचबो—गे आसबे आमार दोकाने ?" (दीदीमनी, आप लोग अगर चाय की दूकान खोल लेंगी तो क्या मैं बेच सकूंगा—कौन आएगा मेरी दूकान में ?) ठीक ही तो कह रहा था बेचारा ! उसी दिन हमारी दूकान के टीन–टप्पर बटोर उसे बन्द कर दिया गया था। सातवीं पौष का, आश्रम–जीवन में विशेष महत्त्व था। गुरुदेव के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने, शान्तिनिकेतन की जमीन और कुछ इमारतों का एक ट्रस्ट बना दिया था, जिसमें एक 'ब्राह्म विद्यालय', 'पुस्तकालय' एवं सातवीं पौष के दिन उस आश्रम में मेले का विशेष उत्सव मनाने का आदेश था। उनके आदेशानुसार, आश्रम के उद्घाटन की तिथि भी (23 दिसम्बर सन् 1901) सातवीं पौष नियत की गई थी। अपनी संचित विभिन्न पुस्तकों को लेकर,

गुरुदेव ने आश्रम पुस्तकालय की स्थापना की। धीरे–धीरे इसी पुस्तकालय ने इतनी उन्नति की कि उसमें पुस्तकें रखने का स्थान भी कम पड़ने लगा। गुरुदेव के मित्र ने चार छात्रों को सर्वप्रथम आश्रम में पढ़ने के लिए भेजा। पांचवें छात्र बने श्री रीवन्द्रनाथ ठाकुर, गुरुदेव के पुत्र। सातवीं पौष को आश्रम में प्रथम छात्रमण्डली ने प्रवेश पाया। इस प्रकार, वह पुनीत तिथि सदा के लिए आश्रम के इतिहास में अमर हो गई। आश्रम की नींव धीरे–धीरे सुदृढ़ हो गई, दूर–दूर से विद्यार्थी आने लगे और सातवीं पौष का मेला हर साल नई बहार और नई उमंगों से मनाया जाने लगा। सातवीं पौष के अतिरिक्त और भी अनेक उत्सवों से आश्रम गुलजार रहता। 'शरदोत्सव,' 'वर्षामंगल,' 'माघोत्सव,' 'दोल पूर्णिमा' आदि। एक बार सुदूर दक्षिण की छात्रा ने आश्रम की एक पत्रिका में लिखा था–"शांतिनिकेतन से घर लौटना ऐसा लगता है जैसे हम घर से बिछुड़ रहे हों।" (Going home from shantiniketan is like going from home.) यही अनुभव आश्रम के प्रत्येक छात्र एवं छात्रा को होता था। कोई भी ऐसी छात्रा नहीं होगी, जिसने आश्रम के पवित्र वातावरण में रहकर, आश्रम गुरु के महिमामय व्यक्तित्व से कुछ–न–कुछ ग्रहण न किया हो। शान्तिनिकेतन के छात्र–छात्राओं पर वहां की एक विशिष्ट छाप स्वयं लग जाती।

आश्रम के नन्दनकानन में जिन असंख्य छात्र–छात्राओं ने अपने छात्रजीवन के अमूल्य दिवस बिताए हैं, वे ही जान सकते हैं कि उनकी विश्वभारती और उनके देवतुल्य गुरुदेव का उनके हृदय में कितना उच्च स्थान था।

आश्रम के विकास में गुरुदेव का योग

जिस आश्रम की स्थापना केवल पांच छात्रों को लेकर हुई थी, वहां अब सैकड़ों छात्र--छात्राओं का दल ज्ञानार्जन कर रहा था। उनके आश्रम की इस सफलता का रहस्य, गुरुदेव के ही शब्दों में स्पष्ट हो उठता था–"शिक्षा संस्कार एवं पल्ली संजीवनी ही मेरे जीवन का मुख्य ध्येय है। मैं यहां कवि नहीं हूं, मैं यहां साहित्य का कारोबार नहीं करता एवं मेरे कार्यक्षेत्र में जो वाणी मुखर हुई है, जिस आलोचक--प्रभा की दीप्ति स्पष्ट हो उठी है, उसी में देश के अभाव और उसकी भावना का उत्तर निहित है।"

इस आलोक–प्रभा की दीप्ति को निरन्तर प्रज्वलित रखने के लिए, उन्होंने त्याग भी कुछ कम नहीं किया था। जब पहले–पहल आश्रम बना, विद्यार्थियों से कोई फीस नहीं ली जाती थी। यही नहीं, उन्हें कपड़ा, पुस्तक एवं खाना--पीना भी आश्रम की ओर से ही मिलता था। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के ट्रस्ट से अठारह सौ रुपया आश्रम को मिलता था, गुरुदेव की मासिक आय भी साधारण थी। कहा जाता है कि उनकी पतिव्रता पत्नी ने, स्वेच्छा से ही अपने कई गहने बेचकर, आश्रम के खर्चे में लगा दिए। सन् 1902 में, उनकी मृत्यु हुई तो गुरुदेव की अवस्था इकतालीस वर्ष की थी, अपने पांच बालकों के अतिरिक्त, आश्रम के अनेक बालकों का भार भी उनके कंधों पर था, स्वयं उनके सबसे छोटे पुत्र की

उम्र थी आठ वर्ष। उधर आश्रम की आर्थिक स्थिति भी डांवांडोल चल रही थी। साथ ही विधाता उनकी कठोर परीक्षा ले रहा था। पहले महर्षि की मृत्यु हुई, फिर दो विवाहित पुत्रियां जाती रहीं और उनके सबसे छोटे पुत्र की, मुंगेर में हैजे से मृत्यु हो गई। अपने प्रिय पुत्र और पुत्रियों की मृत्यु के दुःख को भी उन्होंने, आश्रम के गढ़ने–संवारने में भुला दिया। अपनी पुत्रियों पर उनका अत्यन्त स्नेह था। विशेषकर बेला पर। कहा जाता है, जब वह क्षय की चपेट में आ गईं, तो गुरुदेव ने उनकी दिन–रात सेवा की। उनके लिए, वह कहानियों का कथानक रचते और लिखने के लिए प्रोत्साहित करते। किन्तु उनकी सेवा और स्नेह भी मृत्यु को नहीं जीत पाए। बड़ी पुत्री रानी की क्षय से पहले ही मृत्यु हो चुकी थी। शोक, मृत्यु और विछोह ने भी उन्हें उनके कर्मपथ से विचलित नहीं किया। उनकी कलम अबाध गति से चलती रही, मृत्यु भी उसकी गति को कुंठित नहीं कर सकी। उनके पुत्र श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक स्थान पर लिखा है—"मेरे पिता के संकट और महान दुःख के दिनों में भी उनकी कलम ने हार नहीं मानी। जब वह रानी के विषम रोग से लड़ते, उसे एक पहाड़ से दूसरे पर, वायु–परिवर्तन के लिए ले जाते थे, वह बराबर लिखते रहे—कभी 'चोखेर बाली' (आंख की किरकिरी) और कभी 'नौका डूबी'। पिताजी, कभी भी एक उपन्यास को एक ही बार में लिखकर खतम नहीं करते थे। एक–एक परिच्छेद लिखते जाते और किसी पत्रिका में छपने भेजते रहते। इस प्रकार धारावाहिक रूप में उनके उपन्यास पूरे होते। कितनी ही विरोधी परिस्थितियां क्यों न हों, कितना ही बड़ा मानसिक आघात उन्हें व्यथित क्यों न कर दे, सम्पादकों को उनके उपन्यास की दूसरी किस्त के लिए कभी रुकना नहीं पड़ता। कहते हैं, उनके साहित्यिक जीवन के प्रारम्भ में, एक दिन किसी ने महर्षि देवेन्द्रनाथ से कह दिया कि युवक रवीन्द्रनाथ कविता लिखते हैं और वह भी अन्य तरुण कवियों

की–सी प्रेम कविता नहीं, भक्ति–भावना से सराबोर कविताएं लिखी हैं उनने ! महर्षि ने, एक दिन नवीन कवि को बुला भेजा। महर्षि आंखें बन्द कर, आनन्द–विभोर होकर सुन रहे थे और रवीन्द्रनाथ एक के बाद एक कविता–पाठ करते जा रहे थे। जब वह कविताओं को गाने लगे तो महर्षि गद्‌गद कण्ठ से बोले, "काश, मैं राजा होता तब शायद तुम्हें इन कविताओं का उचित मूल्य दे पाता।" इन्हीं कविताओं का संकलन बाद में 'नैवेद्य' के नाम से प्रकाशित हुआ।

गांधीजी और गुरुदेव

गांधीजी का जन्मोत्सव–समारोह शान्तिनिकेतन में बड़ी धूम से मनाया जाता। प्रार्थना–सभा प्रायः आम्रकुंज में होती। एक बार, गुरुदेव ने, इसी सभा में कहा था, "आज महात्मा गांधी के जन्मदिन के समारोह में, हम आश्रमवासी आनन्दोत्सव करेंगे। मैं आरम्भ के स्वर को पकड़ना चाहता हूं। आज के उत्सव में, जिनको लेकर हम आनन्द मना रहे हैं उनका स्थान कहां है ? उनकी विशिष्टता कहां है ? जिस दृढ़ शक्ति के प्रभाव से, गांधीजी ने समस्त भारतवर्ष को सचेतन बना दिया है, वह प्रचंड है। समस्त देश की समूची छाती पर पड़े जड़ता के भारी पत्थर को उस शक्ति ने हिला दिया है।" गांधीजी के अनशन के समय भी समस्त आश्रम में उदासी और चिन्ता की लहर दौड़ गई थी। आश्रमवासियों को एकत्रित कर गुरुदेव ने फिर उसी आम्रकुंज में एक सभा की थी : 'जय हो उस तपस्वी की जो इस समय मौत को सामने लेकर बैठा है। भगवान् को हृदय में बिठाकर, समस्त हृदय के प्रेम को तपाकर, जलाकर। तुम लोग जयध्वनि करो उनकी, जिससे तुम्हारा कण्ठ–स्वर उनके आसन के पास पहुंच सके। कहो—तुमको ग्रहण कर लिया है, तुम्हारे सत्य को हमने स्वीकार कर लिया है ! वह जिस भाषा में कह रहे हैं, वह कानों के सुनने की नहीं, प्राणों के सुनने की भाषा है। मेरी भाषा में जोर कहां है। वही मनुष्य की चरम भाषा है जो अवश्य ही तुम्हारे प्राणों में भी पहुंच रही है।"

बोलते–बोलते गुरुदेव का कण्ठस्वर उत्तेजित होकर कांपने लगा था और फिर जब सन् 1940 के फरवरी मास में गांधीजी आश्रम आए तो उत्सवों की बाढ़–सी आ गई थी। बड़ा भारी शामियाना लगाया गया था। पूज्या बा भी पधारी थीं। तरह–तरह के आल्पना चित्रों से आश्रम की धरणी संवारी गई और दो–तीन दिन तक नाना उत्सव चलते रहे थे।

अनेक विभूतियों का आगमन

आश्रम–जीवन की एक विशेषता यह थी कि बड़े–से–बड़े व्यक्ति भी वहां आकर एकदम अपने बन जाते थे। मार्शल चाँगकाई शेक मदाम के साथ आए तो उन्होंने आश्रम के विभिन्न भवनों में, घूम–घूमकर छात्रों के परिचय प्राप्त किए। हमारे छात्रावास में तब एक अत्यन्त रूपवती चीनी छात्रा थी मारी वांग, उसने विशेष रूप से लीचियों को सजाकर एक चीनी डिश भी बनाकर उन्हें खिलाई। पण्डित नेहरू तो प्रायः ही आते रहते, उनके आने पर भी आश्रम में अनोखा उत्साह छा जाता। एक बार, चण्डालिका का रिहर्सल चल रहा था। नेहरूजी सहसा आकर गुरुदेव के साथ बैठ गए–गुरुदेव के विशेष अनुरोध पर उनकी एक अबंगाली छात्रा विशनी जगोशया ने उनका गीत 'सांझेर जमुनाय' सुनाया तो पण्डितजी मुग्ध हो गए थे। विशनी का सुमधुर कण्ठ, जैसे रवीन्द्र संगीत के लिए ही विधाता ने सिरजा था, वह एक सुनिपुण गायिका ही नहीं, अपूर्व नृत्यांगना भी थी। उसके लाखों में एक चेहरे को देखकर ही गुरुदेव ने उसका नया नाम धर दिया था 'उर्वशी'। आश्रम में आने से पूर्व वह लाहौर के नए–नए बने आकाशवाणी केन्द्र की एक सुप्रसिद्ध गायिका भी रह चुकी थी।

पण्डितजी के अतिरिक्त सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, श्यामाप्रसाद मुकर्जी आदि कई ओजस्वी वक्ता आश्रम में समय–समय पर आते रहते और हमें अपनी ओजपूर्ण सुवाणी सुनने का अवसर देते। श्री सुभाषचन्द्र बोस एक बार आश्रम में आए तो सिन्हा–सदन

के बाहर, खुले मैदान में उनका स्वागत किया गया। संध्या से ही अभिनन्दन आरम्भ हुआ। श्री बोस ने अपने भाषण के अंत में कहा–"अब तो मैं बोल चुका हूं। आपको कुछ पूछना हो तो पूछें।"

फिर क्या था! प्रश्नों की झड़ी लग गई। छात्र–छात्रागण विचित्र प्रश्न पूछते और श्री बोस हंस–हंसकर उत्तर देते जाते। रात हो गई, पर प्रश्नोत्तर चलते रहे। आश्रम के उन्मुक्त आकाश के तले, ऐसी सुन्दर और सजीव सभा चली कि किसी को समय का ध्यान ही नहीं रहा। तब ही बजा खाने का घण्टा। तब जाकर सभा विसर्जित हुई। गांधी जी हों या पण्डित नेहरू, आश्रम का घण्टा अपने समय से ही बजता। हर घण्टे का अलग–अलग सन्देश रहता। खाने का हो या छुट्टी का, सभा का हो या किसी विशेष उत्सव का, खतरे का हो या किसी मृत्यु का, हर घण्टे की मूक भाषा का 'कोड' आश्रमवासी पहचान लेते। विपत्ति के घण्टे को सुनते ही, सबके कान खड़े हो जाते। एक बार, सन्थाल ग्राम के एक विक्षिप्त लड़के ने फूंस की झोंपड़ी पर आग लगा दी, देखते–ही–देखते आग की लपटें आकाश छूने लगीं। लाल–लाल ज्वाला लपलपाती जीभ देखते ही आश्रम के खतरे का घण्टा बज उठा–टंग ... टंग ... टंग ... टंग ... उपेन्द्र दा की, सधी टीम तत्काल घटनास्थल पर पहुंच गई और आग पर काबू पा लिया गया।

कभी–कभी महामारी आदि फैलने पर आश्रम में गरमी की छुट्टियां जल्दी हो जातीं, गुरुदेव कभी कालिंगपांग, कभी मसूरी और कभी अल्मोड़ा चले जाते और जुलाई तक आश्रम एक प्रकार से वीरान हो जाता। पूजा की एक माह की छुट्टियों में दूर–दूर से आए छात्र–छात्राओं का जाना सम्भव नहीं होता तो उन्हें अनेक सुविधाएं दे दी जातीं। वे गुरुदेव की निजी लाइब्रेरी से पुस्तकें लाकर पढ़ सकते थे। अधिकांश पुस्तकें स्वयं लेखकों द्वारा गुरुदेव को समर्पित रहतीं, इसी से हमें एक–से–एक नई पुस्तकें पढ़ने

को मिलती थीं। पत्रिकाओं का तो कहना ही क्या ? आसपास के कई ग्रामों में दुर्गा की मूर्ति बनती और हमें पूजा देखने ले जाया जाता। फिर आता दशहरा। पूजा के उपलक्ष्य में नई–नई रंग–बिरंगी साड़ियां पहने, केश खोले छात्राएं, अद्धी और रेशम के कुरते और मिट्टी कन्नी की चुनी शांतिपुरी धोतियां पहने छात्र, गुरुजनों को प्रणाम करके निकल पड़ते। पहले ही जाते गुरुदेव के पास, फिर 'बोठान' (गुरुदेव की पुत्र–बधू) को प्रणाम कर अनिल चन्दा रानी दी से 'विजयार प्रणाम' होता और फिर चल देते 'गुरुपल्ली' की ओर। कर्म–सचिव सुरेन्द्र दा, नन्दलाल बसु, भुवनडांगा डे, प्रभात दा, सुधीरराय, सुधीर गुप्ता, आश्रम के एकाउण्टेण्ट भुजंग बाबू आदि अनेक अध्यापकों का स्नेह–भरा आशीर्वाद और बमगोले से 'रसगुल्ले', लेडी कैनिंग' खाकर हमारी टोलियां, महा–उल्लास से दशहरा मनाकर घर लौटतीं।

आश्रम के नियमों में भी पूजा की छुट्टी में थोड़ी–बहुत ढिलाई कर दी जाती।

एक बार, पूजा के अवसर पर भुवनडांगा ग्राम में कहीं से एक प्रसिद्ध 'यात्रा–दल' आ गया। यात्रा प्रायः रात को देर से ही आरम्भ होती और बारह–एक बजे तक चलती। हमारी वार्डन, उन दिनों तक फ्रेंच महिला थी, क्रिश्चयाना बौसनिक। गुरुदेव ने उनका नाम रख दिया था 'बसन्ती', पर पूरे आश्रम की वह दीदी थी—बड़ी ही स्नेहमयी किन्तु अत्यन्त अनुशासनप्रिय। छात्राओं ने 'यात्रादल' का नाटक दिखाने का अनुरोध किया तो उन्होंने एकदम मना कर दिया। चुपके–चुपके लड़कियां गुरुदेव से जाकर अनुमति ले आईं—दीदी को फिर क्या आपत्ति हो सकती थी ? खाना खा–पीकर सबने गरम शॉल ओढ़ लिए और टॉर्च लेकर हम छात्राएं, दो नौकरानियां, कुछ छात्र एवं स्वयं दीदी भुवनडांगा की ओर चल दिए। नाटक देखने का महा–उत्साह था। एक तो कभी यात्रा देखने का अवसर भी नहीं मिला था। थोड़ी

देर में यात्रा आरम्भ हुई और रेशमी चमकती पोशाकें चमकाते एक राजा ने यह कहते प्रवेश किया—"रे तुई पाखण्डी पामर" (अरे तू पाखण्डी पामर)। कण्ठ–स्वर इतना तीखा था कि कान के परदे फट गए। फ्रांस की दीदी को यह चीखना–चिल्लाना कुछ अच्छा नहीं लग रहा था, अपनी साड़ी के पल्लू से दोनों कान दाब–दूबकर उन्होंने आंखें बंद कर लीं। इतने में श्री राधा ने प्रवेश किया। यात्रा–मण्डली ने किसी सुदर्शन किशोर को राधा–रूप में अवतरित होने के लिए चुना होता तो ठीक था, पर ऊंची–ऊंची साड़ी बांधे, एक अत्यन्त हृष्ट–पुष्ट तरुण ने राधा के वेश में मंच पर आकर, महा बेसुरे स्वर में गाना आरम्भ कर दिया। बीरभूमि की बांग्ला का एक विशेष उच्चारण होता है। उसी में श्री राधा अपनी सखियों से नक्की स्वर में गा–गाकर कहने लगीं—

ओहे बाग्दी ठाकुर झी
नन्द गुंस्यार छयालार संगे
कखून हांशियाछी ?
ओलो हाश्याछी तो
बेश कोरेछी—
तुदेर गैलो की ?

अरी बाग्दी (एक जाति विशेष) ननदिया बता तो सही, मैंने नन्द के कुंवर से कब ठिठोली की ? और कभी हंसी–मजाक कर भी दिया तो तुम क्यों जली–भुनी जा रही हो ?

राधारानी का यह अनुपम गीत बहुत दिनों तक छात्राओं का मनोरंजन करता रहा। छात्रावास के हर कमरे से, 'ओलो हाश्याछी तो वेश कोरेछी···' का स्वर गूंजता रहता और खूब ठहाके लगते। पूजा की छुट्टियों के बाद, फिर एक बार आश्रम में चहल–पहल हो जाती। इन्हीं दिनों आश्रम का नया सत्र भी आरम्भ होता। कई नई छात्राएं प्रवेश पाने आतीं और आश्रम की 'विश्वभारती' लिखी

बस बोलपुर के कई चक्कर लगाती, छात्र–छात्राओं को भर–भकर ले आती। साफ–सुथरे फक कपड़े पहन बस के चालक नीलमनी बाबू को प्रत्येक छात्र–छात्रा का रेल का समय याद रहता। कौन मद्रास मेल से आएंगी और कौन पंजाब मेल से। अपनी लम्बी–सी बस को वे पोंछकर चमकाकर रहते। उसी बस में बैठकर, गुरुदेव ने आश्रम से अन्तिम बिदा ली थी। बाद में उसी चित्र को सदा अपनी पॉकेट बुक में संजोकर रखते थे नीलमनी बाबू। उन्हें न जाने कितने ख्यातिप्राप्त व्यक्तियों को अपनी बस में लाने–ले जाने का सम्मान प्राप्त था।

"गांधी बाबा को भी बिठाकर लाया हूं जी"—वह कहते और ऐसे सतर्क होकर गर्व से अपनी लम्बी बस को देखने लगते जैसे गांधी बाबा अभी भी उसमें बैठे हों ? "यह बस क्या ऐसी–वैसी है"—वह कहते तो हम पर उनका रौब छा जाता।

श्रीनिकेतन का मेला

श्रीनिकेतन (शुरुल) का मेला भी आश्रमवासियों का प्रिय उत्सव था। उस दिन तड़के ही हमारी टोलियां श्रीनिकेतन की ओर चल देतीं। दिन का भोजन वहीं मिलता। मार्ग में बैलगाड़ियों पर लदे बड़े–बड़े उल्टे कड़ाह, भगौने और उन पर बैठकर गाना गाते भोजनालय के भृत्यगण हमें दिख जाते, उन दिनों उनका एक लोकप्रिय गीत पूरे आश्रम का लोकप्रिय गीत बन गया था—

बाबूजी बाऽऽबूजी
सकाले चारटा बाजे
पांचटा कैनो बाजेना—
बाबूजी
बाऽऽबूजी

बाबूजी—सुबह तो चार बड़ी जल्दी बज जाते हैं—शाम को पांच क्यों नहीं बजते ?

कई कंटीले झाड़–झंखाड़ पार कर आधे मार्ग में, छोटा–सा श्मशान मिलता, दोनों ओर एक छोटी–सी दीवार, एक कोने में एक–आध फूटी हंड़िया, रस्सी के टुकड़े और इधर–उधर बांस पड़े रहते। कुछ छात्र हंसी–हंसी में 'बोल हरि, हरि बोल' करने लगते जो सरोजिनी दी बहुत फटकारतीं—"शर्म नहीं आती, ऐसी जगह मजाक किया जाता है ! दुर्गा दुर्गा कहो।" फिर क्या था सहस्र कण्ठों में दुर्गा–जाप होने लगता। सरोजिनी दी का

दुर्गाजाप तो निरन्तर ही चलता रहता था। कभी रात को वेणुवन से विचित्र आवाज आती तो हम उनसे पूछतीं—"सरोजनी दी, देखिए सांप बोल रहा है क्या ?" "दुग्गा—दुग्गा,"—आंखें बन्द कर दोनों हाथ कपाल से टेककर प्रणाम करतीं सरोजनी दी, फिर हमें फटकारतीं—"सांप बोलते नेई मां, उनीजे तक्खौक" (दुर्गा—दुर्गा, सांप नहीं कहते मां, वे तो तक्षक हैं, तक्षक)।

लाल—लाल कंकरीली मिट्टी की घूमती—घामती पगडण्डी हमें 'श्रीनिकेतन पहुंचा देती। सामने 'बड़ा कुठी' दीखते ही शोर मच जाता। श्रीनिकेतन की 'बड़ा साहबेर कुठी' (बड़े साहब की कोठी) एक विशाल प्रासाद—सी थी। तिमंजली उस ऊंची कोठी में, चारों ओर झिलमिल लगी खिड़कियां ही खिड़कियां थीं, लोहे की घूम—घूमकर चक्कर खाती सीढ़ियां, बड़े—बड़े कमरे और गिरजाघर की—सी बनावट ! किसी जमाने में वह नील की खेती करने वाले जॉन साहब की कोठी थी। बाद में आश्रम ने उसे खरीद लिया था। कोठी में पहुंचते ही धमाचौकड़ी मच जाती। गाने गाए जाते, ताश जमते। कोई भागकर दीदी की नज़र बचा, पत्ता—भर तेल की पकौड़ियां भी ले आतीं। श्रीनिकेतन के मेले में, विशेष उपासना—सभा तो होती ही, साथ—ही—साथ खेल—कूद प्रतियोगिता, कवि—गान। श्रीनिकेतन में तैयार की गई तांत की सुन्दर साड़ियां, लाख के खिलौने बरतन आदि की भी नुमाइश होती। आज जब कोटा, टाई ऐण्ड डाई, ऐडयार आदि दामी साड़ियों की ऊंची—ऊंची व्यंजनापूर्ण प्रशस्ति सुनती हूं तो श्रीनिकेतन मेले की, उन अनमोल साड़ियों का सरल स्निग्ध स्पर्श स्मृति की हथेलियों में स्वयं सरसराने लगता है जिनका मूल्य रहता दस या पन्द्रह रुपए और जिनके चौड़े पाड़ और मखमली आंचल में श्रीनिकेतनी हाथकरघा अपने रंग—रस का अनोखा जाल बुनकर रख देता था।

खेलकूद और मनोरंजन

उत्सवों के अतिरिक्त, आश्रम खेलकूद में भी पीछे नहीं रहा। फुटबॉल की टीम में 'कानूदा', असीम दा,' 'सन्तोष दा' जैसे खिलाड़ी भी थे, जिनकी प्रसिद्धि कलकत्ता तक थी। कई बार कलकत्ता की प्रसिद्ध फुटबॉल टीमें आश्रम से बाजी हारकर ही लौटतीं। ऐसे अवसरों पर आश्रम के खुले मैदान में तिल धरने को भी जगह नहीं रहती। ऐसा उत्साह रहता कि कभी—कभी पानी की झड़ी लग जाने पर भी खेल चलता ही रहता। वार्षिक खेल—कूद के उत्सव की शोभा तो देखते ही बनती थी। श्री गुरुदयाल मल्लिक की 'कमेण्ट्री' का रस जिन्होंने इस अवसर पर चखा है, वे ही उसका आनन्द जान सकते हैं। कभी—कभी छात्र—छात्राओं का सम्मिलित हॉकी मैच भी होता। वैसे भी छात्र—छात्राओं के मिल—जुलकर खेलने पर कोई बन्दिश नहीं थी। आए दिन सम्मिलित प्रतियोगिताएं होतीं। गुरुदेव ने 'उत्तरायण' स्थित अपना टेनिस लॉन भी हमारे लिए खोल दिया था। टेनिस खेलने कभी अध्यापक भी आ जुटते और टेनिस टूर्नामेण्ट होती रहतीं।

इन सब विभिन्न उत्सव और खेलकूद प्रतियोगिताओं के अतिरिक्त हमें समय—समय पर अपनी अध्यापिका मिस मार्जरी साइक्स के साथ ग्रामों में जाकर, ग्राम—सेवा में भाग लेना होता था। सन्थाल ग्रामवासियों को सफाई सिखाने में हमें विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ता। उनकी झोपड़ियां इतनी स्वच्छ और सुन्दर रहती कि छूने से भी मैली होती थीं। संथाल स्त्रियां, कांसे के

चमचमाते लोटों में, आश्रम के अतिथियों के लिए 'रस' ले आतीं। इसी रस को धूप में रख वे बाद में ताड़ी बना लेतीं थी जिसे वे 'मद' कहती थीं। ताजा रस अत्यन्त स्वादु होता था। रस पिलाने के बाद, अपने स्वर में गाए गीतों के साथ वे अपने मनोहारी नृत्य से हमारा मनोरंजन करतीं। काला चमकता पॉलिश किए आबनूस–सा काला रंग, बड़ी ही सुन्दर मरोड़ से बांधा गया पंखे के आकार का जूड़ा और साफ–सुन्दर ऊंची–बंधी, इकलाई धोती। उन्हीं से जूड़ा बांधने का ढंग सीख कर, शान्तिनिकेतन की छात्राओं ने एक नए केश–विन्यास की सृष्टि की जो बाद में कलकत्ते में फैशनेबल वर्ग में अत्यन्त लोकप्रिय होकर 'सांउताली खोपा' कहलाया। इसी अलमस्त संथाल किशोर दल को देखकर गुरुदेव ने, अपना यह गीत लिखा था–

ओगो सांउताली छेले
श्यामल सघन नव वरषार किशोरदूत की एले–
धानेर खेतेर पारे
शालेर छायार धारे
बांशीर सुरेते सुदूर दूरेते
चले छे हृदय मेले–

–"अरे ओ संथाल किशोर, क्या तुम श्यामल सघन वर्षा के किशोर–दूत होकर आए हो ? धान के खेतों के उस पर, शाल वृक्ष की छाया तले खड़े हे संथाल–किशोर, तुम्हारा वंशी–स्वर, तुम्हारे हृदय से एक होकर बज रहा है।"

प्रायः ही यह गीत गाते हम संथाल–ग्राम से होकर निकलते तो संथाल स्त्रियां, मुख में आंचल दबाकर हंसने लगतीं। और कुछ समझें–न–समझें, 'सांउताली छेले' तो समझ ही लेतीं।

आश्रमवासियों के लिए गुरुदेव के गीत

गुरुदेव ने आश्रम के लिए कई कविताएं विशेष रूप से लिखी थीं। इनमें से कुछ छात्रवर्ग में विशेष रूप से लोकप्रिय थीं। ये पिकनिक के अवसरों पर बड़े आनंद से गाई जाती थीं–

भालो मानुष नांई रे मोरा
भालो मानुष नांई
गुनेर मध्ये एई आमादेर
गुनेर मध्ये एई
देशे देशे निंदे रटे
पदे पदे विपद घटे
पूंथीर कथा कइने मोरा
उल्टो कथा कई
छूटी निलेन बृहस्पति
रईल शनीर दृष्टि
अयात्रा ते नौका भाषा
राखी नेमाई
फलेर आशा
आमादेर आर नांई ये गति
येसेई चलावई

–"हम भलेमानुष नहीं हैं, एक ही गुण है हमारा। देश–देश में

हमारी निन्दा होती और पद–पद पर हम विपत्ति से जूझते हैं। किताबी ज्ञान हम नहीं बघारते, किताब में लिखे को ठीक उल्टा करते हैं। हमारे जन्म के समय बृहस्पति छुट्टी पर थे, इसी से शनि की दृष्टि ही हम पर रही। हमारी नौका अयात्रा पर चली है भाई ! फल की तो हम आशा ही नहीं रखते और गति तो हमारी है ही नहीं—सदा तैरते रहना—यही हमारी गति है।''

इसी प्रकार एक दूसरा लोकप्रिय गीत था—

ना गान गावार दल रे
आमरा ना गला साधार
मोदेर भैरव रागे, रविर रागे मुख आंधार
आमादेर एई अमिल कंठ समवायेर चोटे
पाड़ार कुकूर सस्वरे फुकरे ओठे—
आमार केवल मरि भये धूर्जटिदादार
मेघमल्लार धरियरि, अनावृष्टि
छातिवालार दोकान जुड़े लागे शनीर दृष्टि
आधखाना सुर जमना लाई वसंत बहार
तत्क्षणात् विच्छेद ताप पालाय श्रीराधार
अमावास्या रात्रे जैमन बेहाग गाइते बशा
कोकिल गुलेर लागे दशम दशा
शुक्ल कोजागरी निशाय धरी जैजैवंती
राहु लागार वदेन लागे पूर्णिमा चांदेर

—''हमारा दल गवैयों का नहीं है भाई ! हमने कण्ठ की गायकी को नहीं साधा। हम भैरव राग गाने लगते हैं तो सूर्य का मुंह क्रोध से लाल हो जाता है—हमारे समवेत बेसुरे कण्ठों की गायकी से मुहल्ले के कुत्ते चौंककर भौंकने लगते हैं। हम मेघमल्लार छेड़ते हैं तो वर्षा थम जाती है, छातेवालों की दुकान पर शनि की दृष्टि लग जाती है, वसन्त–बहार का आधा ही स्वर लगा पाते हैं कि

श्री राधा का विरह–दुःख दूर हो जाता है। अमावस्या की रात को हम जब विहाग गाने लगते हैं तो कोयलों को दशम दशा घेर लेती है और कोजागरी पूर्णिमा के दिन अगर हमने कहीं जैजैवन्ती छेड़ दी तब तो पूर्णिमा के चन्द्र को राहु ग्रस लेता है।''

आज समस्त भारत का गौरवगान हमारा राष्ट्रीय गीत 'जनगणमन अधिनायक जय हे' आश्रम के विशेष उत्सवों पर ही गाया जाता था, तब पूरा गीत दो बार दुहराकर गाया जाता था। इसी प्रकार 'वन्दे मातरम्' की ठीक स्वरलिपि एक नियमित अभ्यास, बूढ़ी दी या शान्ति दा के पास बैठकर करना होता था। तब, उसकी अन्तरा 'त्रिंशकोटिभुजे' भी गाई जाती थी और मुझे इसी से आज का 'वन्दे मातरम्' सदा अधूरा अनचीन्हां–सा ही लगता है, उसी अन्तरा के कोमल स्वर ही तो उसके असली नगीने हैं। उत्सव, पिकनिक का 'आश्रम गीत' था। विश्वभारती की नारंगी कांपियों के पीछे, पत्रिकाओं के अन्तिम पृष्ठ पर यही गीत लिखा रहता था। आश्रम के छात्र–छात्राओं के हृदय की भावनाओं को, उनके आश्रम–कालीन जीवन के सुख और उल्लास को ही, गुरुदेव ने कविता में, स्वरों के मीठे जाल में बुनकर रख दिया। आधा गीत गाकर, बीच में 'गुरुजी की फतेह' का बुलन्द नारा लगाया जाता और फिर गीत आरम्भ हो जाता।

आमादेर शान्तिनिकेतन
सब होते आपन
आमादेर शान्तिनिकेतन
तार आकाशभरा कोले
मोदेर दोले हृदय दोले
मोरा बारे बारे रेखी तारे
नित्यई नूतन—
आमादेर शान्तिनिकेतन

मोदेर तरुमूलेर मेला
मोदेर खोला माठे खेला
मोदेर नील गगनेर सोहागमाखा
सकाल संध्या वेला
मोदेर शालेर छाया वीथी बाजाय
वनेर कलगीती
सदाई पातार नाचे मेते आछे
आमलकी कानन
आमादेर शान्तिनिकेतन
आमरा जथाय मराधूरे
शे जे जाय नाकमू दूरे
मोदेर मनेर मांझे
प्रेमेर शेतार
बांधा जेतार सुरे
मोदेर प्रानेर संगे
प्राने शेजे मिलियेछे
एकताने
मोदेर माध्येर संगे भाई के
शेजे करेछे एकमन
आमादेर शान्तिनिकेतन

(हमारा शान्तिनिकेतन—
हमारा सबसे प्यारा
अपना शान्तिनिकेतन
इसकी आकाश—भरी गोद में
हमारे हृदय नाच उठते हैं।
हम इसे बार—बार निहारते हैं
और नित्य नवीन पाते हैं
हमारे तरुवर, हमारे खुले मैदान

और उनमें हमारा खेलना
हमारे सांझ सवेरे का
सोहाग—भरा नील गगन
हमारी शाल—वीथिका
हमें कलगीत सुनाती हैं
हमारे आमले का कुंज
जो सदा नाचते पत्तों की
खुशी से मतवाला रहता है
हम कहीं भी हों—
हमारा आश्रम हमसे कभी
दूर नहीं रहता।
उसके प्रेम का सितार
हमारे मन के स्वरों में बंधा है
हमारे प्राणों से
उस सितार की धुन
एक होकर मिल गई है
भाई भाई को
आश्रम ने एकमन एकप्राण कर दिया है।)

यही थी आश्रम—गुरु की वाणी। आश्रमवासी कहीं भी रहें, आश्रम उनके हृदय में ही रमता। रवीन्द्र संगीत की स्वर—लहरी देश—विदेशों में गूंजने लगी। आश्रम के बहुत पुराने छात्र पिनाकी ने, रवीन्द्र संगीत को पहली बार गुजराती में प्रस्तुत किया। उत्तठायण में बम्बई से आई उनकी छात्राओं ने गुजराती में एक संगीत—नाटिका का प्रदर्शन किया। इसी प्रकार कलकत्ता, मद्रास, बर्मा आदि की छात्राओं ने वहां 'रवीन्द्र साहित्य वासर' की स्थापनाएं कीं।

छात्रों का अतिथि-प्रेम

शान्तिनिकेतन के प्राक्तन छात्र–छात्राएं, आश्रम के अन्य किसी भी छात्र–छात्रा से मिलने पर, अपूर्व स्नेह दिखाते। एक बार हम बैंगलोर में थे–आश्रम के बहुत पुराने छात्र श्री गोपाल रेड्डी वहां आकर बड़े प्रेम से हमें अपनी कार में अपनी नीलोर स्थित विराट हवेली 'सुदर्शन महल' ले गए और हमारी स्नेहपूर्ण आवभगत की।

आश्रमवासियों को इस आतिथ्य की विशेष रूप से शिक्षा दी जाती थी–कोई भी अतिथि क्यों न हो, वह कभी असन्तुष्ट होकर आश्रम से न लौटे, इसका विशेष ध्यान रखा जाता। एक बार राष्ट्रपति श्री राजेन्द्र प्रसाद जी आश्रम में पधारे। बिहार की छात्राओं ने मिल–जुलकर स्वादिष्ट बिहारी व्यंजन बनाए। मुझे आज भी याद है कि भुने तिल की एक विशिष्ट परिचित मिठाई देखकर राजेन्द्र प्रसाद जी आश्चर्य से पूछने लगे–"अरे, तुम लोग !"

श्रीभवन के बाहर बड़ी–सी दरी बिछा दी गई थी। उन दिनों राजेन्द्र बाबू अस्वस्थ थे; फिर भी उन्होंने हमारी बनाई हुई चीजें चखीं, प्रशंसा की और बार–बार खांसी उठने पर भी हमारी हस्ताक्षर–पुस्तिका में अपने हस्ताक्षर किए। लॉड लोरियन, सर मॉरिस ग्वायर जेनेवा से आया, वैज्ञानिकों का शिष्टमण्डल। सब आश्रम आते और वहां की सर्वथा मौलिक शिक्षा–प्रणाली को देखकर मुग्ध हो जाते।

गुरुदेव की आत्मीयता

बाद में गुरुदेव प्रायः अस्वस्थ रहने लगे और उनके पास आने–जाने की सुविधाएं भी बहुत कम हो गईं। उनके पास दिन–रात या तो उनकी पुत्र–वधू प्रतिमा दी रहतीं या पौत्री बूड़ी–दी (नन्दिता कृपलानी) या रानी चन्दा। उनके मुंह लगे नौकर वनमाली ने भी शासन की लगाम खींच ली। एक दिन वह हमें बुरी तरह फटकार रहा था–"समय–असमय कुछ नहीं देखतीं, देख नहीं रही हो क्यों, बाबा मौशाय की तबीयत कैसी चल रही है ?"

गुरुदेव ने भीतर से सुन लिया तो उलटा उसे ही डपट दिया–"आने क्यों नहीं देता ? चली आओ भीतर–"

हमारे अन्दर आने पर उन्होंने बड़े स्नेह से कुशल पूछी। फिर एकाएक बोले–

"जयन्ती से बर्दवान के राजबाड़ीवाले भूत की कहानी सुनी ?"

हमारे ऐसा कहने पर स्वयं सुनाने लगे। जयन्ती मेरी बड़ी बहन थीं और बर्दवान में, संस्कृत की काव्यतीर्थ की परीक्षा देने गई थीं। स्वयं गुरुदेव ने ही उनके रहने की व्यवस्था, बर्दवान के राजमहल में करवा दी थी। भुतहेमहल में एक भूत की विचित्र लीला देखकर वह लौटी थीं। गुरुदेव ने, इतने रोचक ढंग से वह भूतकथा हमें सुनाई कि रोंगटे खड़े हो गए। लग रहा था हम उत्तरायण में नहीं, बर्दवान के राजमहल में बैठे हैं और एक

चर्म–मांसहीन ठठरी, सचमुच ही हमारे इर्द–गिर्द चक्कर लगा रही है। ऐसे ही एक बार, बीमारी में भी गुरुदेव ने उत्तरायण में एक विशेष आयोजन में, अपनी कविता 'हृदय आमार नाची रे आजी के मयूथेर मत नाची रे' स्वयं आवृत्ति कर सुनाई थी। जिन्होंने उनके मुख से यह कविता सुनी है, वे ही जान सकते हैं कि गुरुदेव का मधुर स्वर कितनी सुन्दरता से, अपनी कविता के उतार–चढ़ाव को व्यक्त कर सकता था। उत्तरायण के पिछले भाग में एक बहुत ही सुन्दर बाग था। उसी से लगा लम्बी खिड़कियों और द्वारों से शोभित एक खुला दुमंजिला कमरा भी था। पास में एक छोटा–सा तालाब भी बनवा दिया गया था, जिसमें बड़े ही सुन्दर कमल खिलकर तैरते रहते थे। उस बाग के मनोहर फूलों के बीच खड़े होकर, तस्वीर खिंचवाने का शौक आश्रम में ऐसा फैला कि बाद में गुरुदेव से अनुमति लेकर तस्वीर खिंचवाने का नियम बना दिया गया। आश्रम के कुशल छायाकर शुम्भु साहा कलकत्ते से आते तो सब अनुमति लेने भागतीं। गुरुदेव को यह पाबन्दी कुछ अच्छी नहीं लगी। उन्होंने एक दिन सबसे कह दिया, "तुम लोग जब जी चाहे यहां तस्वीर खिंचवा सकती हो।" फिर क्या था, शायद ही कोई ऐसा अभागा छात्र या छात्रा रही होगी, जिसके पास उत्तरायण के उस सुनहले बाग की तस्वीर न हो।

आश्रम के छात्र–छात्राओं का नियम था कि प्रत्येक वर्ष, ग्रीष्मावकाश से पूर्व उत्तरायण के बरामदे में, गुरुदेव के साथ वे अपनी तस्वीर खिंचवाएंगे। अस्वस्थ होने पर भी, उन्होंने कभी अपनी छात्र–मण्डली को निराश नहीं किया। यही नहीं, एक बार चित्र के खराब हो जाने पर जब हम लोग, उनके पास फिर तस्वीर खिंचवाने का आग्रह करने पहुंचे तो उनके रथ पुत्र रथी दा ने, बुरी तरह झिड़क दिया। पर न जाने कहां से, गुरुदेव ने सुन लिया और वनमाली को नीचे भेजकर कहलवाया—"दोपहर में तीन बजे के बाद कभी भी तुम लोग आ जाना।" ऐसी थी उनकी महानता

और उदार मनोवृत्ति। यही हाल हस्ताक्षर–पुस्तिकाओं का रहता। हर छात्र तब यही चाहता था कि गुरुदेव कुछ लिख दें, केवल नाम की सही नहीं, हर छात्रा चित्र बना देने के लिए मचलती। प्रायः ही गुरुदेव आशीर्वाद लिखकर अपने हस्ताक्षर कर दिया करते।

गुरुदेव के पास विदेश की बहुत डाक आती थी। छात्र–छात्राओं का दल उनके पास पहुंचकर, टिकटों के लिए बहुत उधम मचाता। एक दिन उनकी डाक में आए एक 'त्रिकोण टिकट' के लिए ऐसी छीना–झपटी हुई कि उन्होंने टिकट बांटना ही बन्द कर दिया। क्रोध आने पर, गुरुदेव प्रायः ऐसी ही सजा देते थे।

अस्वस्थ होकर, बिस्तरे लगने से पहले गुरुदेव ने शिशु–भवन की एक सभा का सभापतित्व ग्रहण किया था। जहां तक मुझे स्मरण है, उस सभा के बाद वे अन्य किसी सभा या उत्सव में फिर नहीं आ पाए थे। वैसे तो आश्रम की प्रत्येक साहित्य–सभा का अपना पृथक् व्यक्तित्व होता था, किन्तु शिशु–भवन की सभा की निराली ही शोभा रहती। सफेद गरद की साड़ी पहने माशी मां अपनी पूरी बाल–सेना को पंक्तिबद्ध कर ले आतीं। छोटे–छोटे बालक, चुनी धोती और कुरता पहने सभा सजाने में जुट जाते। उनके उस चुनी धोती–कुरते की गरिमा मुझे आज किसी भी ख्यातिप्राप्त पब्लिक स्कूल के ब्लेजर में भी दृष्टिगोचर नहीं होती। एक तो शिशु–भवन की सभा, उस पर सभापति स्वयं गुरुदेव! लाइब्रेरी के सामने ही उनकी सभा सजी थी। एक–एक करके छोटे–छोटे बालक एवं छोटी–छोटी बालिकाएं आतीं और लेख–कहानी आवृत्ति गीत सुनाकर दर्शकों का मन मोह लेतीं। आश्रम में प्रशंसा व्यक्त करने पर कभी तालियां नहीं बजती थीं। गुरुदेव को दो चीजों से सख्त नफरत थी, एक ताली और दूसरी 'हारमोनियम'। ताली के स्थान पर एक स्वर

में 'साधु–साधु' कहते। शिशु–विभाग की इस सभा में मंच पर, चीना–भवन के प्रोफेसर तान का नन्हा पुत्र तान ली आया और अपना लेख खूब ऊंचे स्वर में पढ़ने लगा। लेख का शीर्षक था–'गुरुदेव बड़ो भालो (गुरुदेव बड़े भले हैं) उस रचना की पहली पंक्ति थी– 'आमरा गुरुदेव के भालो बाशी' (हम गुरुदेव को प्यार करते हैं) रचना की अन्तिम पंक्ति थी– 'गुरुदेव आमादेर मां' (गुरुदेव हमारी मां हैं)। प्रत्येक वर्ष उनके जन्म की पुण्यतिथि पर, देश–विदेश के पण्डित, साहित्यक सोच में डूबे रहते हैं कि किन शब्दों में सरस्वती के वरद पुत्र की आरती उतारें ?

पर उनके आश्रम के एक नन्हें विदेशी छात्र ने वर्षों पूर्व उन्हीं की उपस्थिति में, अपने आडम्बरहीन सरल–स्नेह के फीते से उन्हें नापकर रख दिया था–'गुरुदेव आमादेर मां'। पिता के स्नेह में, शासन का पुट रहता है, कड़ी देख–रेख की लगाम कसी रहती है, किन्तु मां का स्नेह रहता है सरल–क्षमाशील–निःस्वार्थ।

नन्हा तान ली भी शायद उस स्नेह की गहराई को समझ गया था। 'क्वचिदपि कुमाता न भवति' (पुत्र कुपुत्र हो सकता है किन्तु माता कभी कुमाता नहीं हो सकती।)

सादा पर कलापूर्ण रहन-सहन

विशेष उत्सवों पर अध्यापकों को एक विशेष प्रकार का चोगा पहनना पड़ता था, वैसे आम तौर पर ढीला कुरता और धोती ही अध्यापकों की पोशाक थी। कृष्ण कृपलानी जी ढीले पायजामे के ऊपर शेरवानी पहनते थे, यही परिधान अनिल चन्दा को भी प्रिय था। स्वयं गुरुदेव के पास काले, सफेद, इलायची, कई रंग के रेशमी चोगे थे, पर जितना सुन्दर उन्हें उनका काला रेशमी चोगा फबता था, उतना अन्य कोई नहीं। उसके साथ वे वैसे ही रंग की कुछ–कुछ नेपाली डिजाइन की टोपी लगाते, गले में आक–पुष्पों की माला और प्रखर ललाट पर चन्दन का टीका। उनकी जेब–घड़ी हमेशा एक रेशमी लम्बे काले फीते में बंधी, गले में झूलती थी। छात्राओं पर भी किसी विशेष प्रकार के परिधान की बन्दिशें नहीं थी, किन्तु आश्रम का सीधा–सादा रहन–सहन ही कुछ ऐसा था कि उसमें ऐंठ–भरे बांकपन के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं रहती। सूती धोती और चप्पल, बहुत हुआ तो किसी ने जूड़े में एक फूल लगा लिया। उन दिनों ब्लाउज की बांहों में ब्रह्म–सज्जा की फ्रिल चल पड़ी थी, किन्तु लम्बाई नियत सीमा तक बंधी रहती, न एक इंच ऊपर, न एक इंच नीचे। कभी–कभार सिन्धी छात्राओं ने बड़े दुःसाहस से अपने देसी परिधान धारण किए भी तो दूसरे ही दिन स्वयं उन्हें बक्स के तले में डुबो दिया। एक–आध ने ऊंची ऐड़ियां को खटखटाने का प्रयोग भी किया, फिर स्वयं ही खिसियाकर चप्पल पर उतर आईं। कुछ ही दिनों में आश्रम की सादगी से वे अछूती न रह सकीं। सादी साड़ी को

भी कुछ ऐसे कलात्मक ढंग से पहनने की शिक्षा मिलती थी कि सस्ता कपड़ा भी बहुमूल्य लगने लगता। नारंगी रंग छात्राओं को ही नहीं, गुरुदेव को भी विशेष रूप से प्रिय था। छात्रों में, एक विशिष्ट ढंग से सिले कुरते का प्रचलन था, जिसकी बांहें मुहरी से तंग और ऊपर से ढीली रहतीं। शान्तिनिकेतन की शिक्षा प्रणाली ही नहीं, वहां की वेषभूषा का भी अपना अनोखा बांकपन था। इसी से जब कभी वहां की छात्राएं कलकत्ता के 'विद्यासागर कॉलेज' में विश्वविद्यालय की परीक्षाओं में सम्मिलित होने जातीं तो वहां की भड़कीली 'ढाकाई', 'टांगाइल' और मुर्शिदाबादी' साड़ी पहने छात्राएं आश्रम की सरल सौम्य छात्राओं को देखती रह जातीं। उनके दामी कपड़ों में वह मोहकता न होती जो आश्रम की साधारण श्रीनिकेतनी धोती में ! छात्राएं समय–समय पर स्वयं नए ढंग से जूड़ा बनाने का, नई तरह से साड़ी बांधने का ढंग चलाती रहतीं।

आश्रम पर काले बादल

आश्रम के इसी मौलिक आकर्षण से खिंच–खिंचकर देश–विदेश के छात्र–छात्राएं आकर जुटने लगे, किन्तु आनन्द–उत्सव के बीच सहसा आश्रम का तेजपुंज मन्द पड़ने लगा। गुरुदेव की अस्वस्थता फिर बढ़ गई। अब भी उनके आश्रमवासी, वैतालिक गाते–गाते उत्तरायण तक जाते किन्तु उनके गीत स्वरों में, अब वह ताजगी नहीं रह गई थी। बड़े–बड़े डॉक्टर आते और चिन्ता में डूबकर रह जाते। एक ओर उन्हीं दिनों आश्रम का नया बिजलीघर बन रहा था–उसको देखकर गुरुदेव ने हमसे कहा था–"अब तुम्हारा नया बिजलीघर बन रहा है, तुम्हें अब बिजली का कष्ट नहीं रहेगा।" किन्तु आश्रम की रोशनी तो बुझी जा रही थी। आश्रम के उत्सवों में अब न वह आनन्द था, न उत्साह। जिसे देखो, वही यह कहता, न जाने कैसे अमंगल की आशंका हो रही है। स्वयं गुरुदेव का चेहरा भी बदल गया था, बीमारी में उनके बाल और भी छोटे कर छांट दिए गए थे। सुनने में आ रहा था कि उन्हें अब कलकत्ता ले जाया जाएगा। झुण्ड–के–झुण्ड दर्शनार्थी नित्य उत्तरायण जाते और द्वार से ही दर्शन कर लौट आते। उनके कई पुराने अध्यापक, जिनमें से कई उनके छात्र भी रह चुके थे, पढ़ाते–पढ़ाते चुपचाप किताब बन्द कर छुट्टी कर देते।

'उपासना मन्दिर' में क्षितीमोहन बाबू विशेष प्रार्थना–सभा करते–करते सहसा उदास हो जाते।

गुरुदेव की बीमारी के काले बादलों ने पूरे आश्रम को घेर लिया और एक दिन गुरुदेव के कलकत्ता प्रवास की तैयारियां हो गईं। पूरा आश्रम उस दिन उन्हें विदा देने उत्तरायण के बाहर खड़ा था। एक–एक कर सबने उनके चरणों की धूल माथे से लगाई और धीरे–धीरे विश्वभारती की लम्बी बस, गुरुदेव को लेकर आंखों से ओझल हो गई।

फिर कुछ दिन जैसे रतजगों में बीत गए। लाइब्रेरी के बाहर एक बड़ा–सा नोटिस बोर्ड था, उसी पर दिन में चार बार उनके स्वास्थ का नवीनतम बुलेटिन लिखा रहता, 'अभी भी दशा चिन्ताजनक है।' फिर एक दिन वह आया जब आश्रम मणिहीन मुकुट मात्र रह गया। आश्रम के पेड़–पत्ते तक शोकमग्न हो उठे।

जिस दिन गुरुदेव के अस्थि–अवशेष को लेकर उनके आत्मीय स्वजन लौटे, आश्रमवासी सड़क के दोनों ओर लम्बी कतार में, शोकमग्न सिर झुकाए खड़े थे। आश्रम के गुरुदेव नहीं रहे, पर उनका आश्रम निष्प्राण होकर भी, स्वयं उन्हीं की वाणी से प्राणमय था–

आमार जाबार समय होलो
आमार कैनो राखीस धरे ?
चोखेर जलेर बांधन दिए
बांधीस ने आर मायार डोरे
फूरियेछे जीवनेर छूटी,
फिरिए ने तोर
नयन छूटी
नामधरे आर डाकिस ने भाई
जेते हौबे त्वराकरें–
(मेरे जाने का समय हो गया है, अब
मुझे पकड़कर क्यों रखते हो ?

अपने अश्रुजल की मायाडोर के
बन्धन से मुझे मत बांधो।
जीवन की छुट्टी समाप्त हो गई है
अपनी आंखें फेर लो
मुझे मत देखो
मुझे नाम लेकर अब मत पुकारो भाई
मुझे अब जल्दी जाना है।)

आज उन्हें गए कितने वर्ष बीत गए, पर अभी भी कभी–कभी लगता है–काले झन्ने में, काली टोपी में वह 'पुनश्च' की मेज पर झुके कुछ लिख रहे हैं–और हमारे पैरों की आहट से चौंककर सिर उठाते हैं–"की रे–आबार की होलो" (क्यों री, अब क्या हो गया ?)

गुरुदेव की वाणी, उनके आश्रम के छात्र–छात्राओं के कानों में सदा गूंजती रहेगी, उनका पावन सन्देश युग–युगान्तर तक लोगों को अनुप्राणित करेगा। मृत्यु–शय्या पर लिखा गया उनका गीत, सर्वदा दिगन्त में गूंजता रहेगा–

सम्मुखे शान्ति पारावार
भाषाओ तरणी हे कर्णधार।"

(सामने शान्ति का सागर लहरा रहा है
हे नाविक, नाव को उसमें बहने दो।)

सीमंतेर सिंदूर

कहा जाता है कि प्रत्येक सफल पुरुष की सफलता के पीछे किसी नारी की छाया अवश्य रहती है, और यदि वह छाया स्वयं उस पुरुष की सुख–दुखानुगामिनी जीवनसहचरी की हो, तो फिर उसकी सफलता भी असाधारण होती है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी की विद्वत्ता, उनकी विनम्रता, उनकी सरलता को जिसने ऐसा सहज बना दिया था, उसका नाम भी शायद कुमारटोला के उन अनाम शिल्पियों के नाम की भांति कोई नहीं जानता, जिसकी गढ़ी अष्टभुजा की जीवंत मूर्ति देख अनायास ही दर्शकों के मुंह से 'वाह' निकलने पर भी कभी कोई यह नहीं पूछता कि इस भव्य मूर्ति का शिल्पी कौन है ?

उनका नाम था भगवती द्विवेदी। जब विवाह होकर पतिगृह में आईं तब वयस् थी तेरह–चौदह वर्ष। तब से निरन्तर छाया बनीं वह जिस निष्ठा से पण्डितजी की दीर्घ देह को वर्षा–आतप से सेंतती रहीं, उसे देख आश्चर्य होता है कि इस युग की वह सती बैधव्य का यह महादुःख, भले ही वह मुट्ठी–भर दुर्वह महीनों का क्यों न रहा हो, सहने पृथ्वी पर रह कैसे गईं ? मैं भाभीजी का वह शांत, स्निग्ध चेहरा याद करती हूं तो अपनी इस मूर्ख शंका का उत्तर मुझे स्वयं ही 'मानस' की गूढ़ पंक्तियों में मिल जाता है :

'अवगुण एक मोर मैं माना।
बिछुरत प्राण न कीन्ह पयाना।।
नाथ सो नयनन्हकर अपराधा।
सिसरत प्राण करहिं हठबाधा।।

पतिविहीन उनकी वे भयानक रूप से दीर्घ बन गई रातें कैसे कटी होंगी, मैं समझ सकती हूं। इधर पिछले दो वर्षों से, जब से पंडितजी शारीरिक एवं मानसिक दोनों झटकों से बहुत कुछ टूट चुके थे, उनके चारों ओर घिरा सतर्कता का घेरा भाभीजी ने और जटिल कर दिया था। कभी भी किसी मीटिंग में लखनऊ आते तो भाभीजी उनके साथ आतीं।

"कब खाना है, क्या खाना है, कब सोना है, सबका समय बांध दिया है तेरी भाभीजी ने।" मुझे लगता है, जैसे पंडितजी अपनी चिरपरिचित मुद्रा में पालथी मारकर मेरे तख्त पर बैठे, फिर हिल-हिलकर कह रहे हैं-"जैसे-जैसे बुढ़ा रही हैं वैसे-वैसे एकदम शहर कोतवाल बनती जा रही हैं।"

"ऐसा नहीं करूंगी, तो क्या तू जानती है क्या करेंगे···?" भाभीजी का ठेठ बिहारी संगीतमय लटका उस दिन उसी क्षण उनके कठोर अनुशासन की कैफियत दे गया था-"दोनों बेला भात ही भात खाएंगे, चाय में मुट्ठी भर शक्कर डालेंगे, छिप-छिपकर मीठा मंगवा लेंगे और दुनिया-भर के साहित्यिक निमंत्रणों को स्वीकार कर, कभी चल देंगे कलकत्ता, कभी भोपाल और कभी हैदराबाद। जबकि डाक्टरों ने इन्हें घूमने-फिरने को एकदम मना किया है। इसी से अब एक मिनट के लिए भी इन्हें अकेला नहीं छोडूंगी।"

उनके गहरे आत्मविश्वास से की गई इस घोषणा ने उसी क्षण मेरे पापी चित्त को शंकित किया था-जीवन में एक क्षण ऐसा भी तो आता है जब एक मिनट को भी अकेला न छोड़ने की ऐसी घोषणा करने वाले को विधाता धक्का देकर उसका सारा गर्व पल में चूर-चूर कर देता है। काल की उस वक्र कुटिल गति से तब तक मेरा परिचय हो चुका था, इसी से मन ही मन उस दिन सुखी युगल जोड़ी को देखकर मनाया था-ईश्वर करे, भाभीजी पंडितजी के लिए सदा ऐसी ही कठोर शहर कोतवाल बनी रहें !

पंडितजी के निरन्तर टूट रहे स्वास्थ्य को मैं देख रही थी। मेरी सीढ़ियां चढ़ने में वह बार-बार हांफने लगे थे। कभी-कभी अस्वाभाविक रूप से गंभीर होकर न जाने किस सोच में डूब जाते। हिंदी संस्थान ने उनके लिए ऐसी-ऐसी चिंताओं का जाल बुनकर फैला दिया था, जिनसे आज तक उनका सरल, भोला, निष्कपट हृदय कभी नहीं टकराया था। आडिट की दुरूह भूलभुलैया में व्यर्थ भटक-भटककर वह स्वेच्छा से ही दूसरों का गरल कंठ में धारण कर नीलकंठ बने जा रहे थे।

भाभीजी एक दिन बुरी तरह बिगड़ गईं। उस दिन दोनों रात्रि के भोजन के लिए मेरे अतिथि थे। मैं रसोई में पूरियां उतार रही थी कि भाभी जी ने पुकारा, "ए गउरा (दोनों मुझे सदा इसी विचित्र संबोधन से पुकारते थे) यहां आ तो जरा।"

मैं कढ़ाई उतार कर गई तो देखा, पंडितजी गंभीर होकर तख्त पर अधलेटी मुद्रा में एक पत्रिका उलटने-पलटने का उपक्रम कर रहे हैं और भाभीजी का गोरा चेहरा तमतमाकर लाल पड़ गया है। मैं सहम गई थी। अभी-अभी तो दोनों को विष्णु-लक्ष्मी-सा एक साथ तख्त पर स्थापित कर चौके में आई थी, अभी-अभी क्या हो गया ?

"देख, कल सारी रात नहीं सोए हैं। संस्थान, संस्थान, जब देखो तब संस्थान ! हम कहती हैं आग लगा दो इस नौकरी में, दे डालो इस्तीफा ! जिसने जहां चाहा दस्तखत करवा लिए। अब दोष किसी का है, भोगेंगे यह ! बोलती क्यों नहीं ! नहीं जानती क्याऽऽऽ ?"

मैं क्या कह सकती थी ? मुझे चुप देख वह और तिलमिलाकर कहने लगीं, "रात-भर सोएंगे नहीं। सिरदर्द ऐसा कि पूछो मत। कुछ कहो तो कहेंगे, अभी ब्लडप्रेशर वाली दवा खा लेंगे, दर्द ठीक हो जाएगा पर हम कहती हैं, यह दर्द किसी दवा से ठीक नहीं होगा; छोड़िए संस्थान का मोह और तब ही यह दर्द जाएगा ·····"

"अच्छा, अच्छा भाभीजी, मेरी कढ़ाई ठंडी हो गई होगी। अब उसे गर्म होने दीजिए, आप ठंडी हो जाइए, मैं खाना लगा रही हूं।"

मैंने चटपट खाना लगाया और अपनी सब्जियों, रायते, खीर के परिचय के बीच फिर संस्थान के अप्रीतिकर प्रसंग को उभरने ही नहीं दिया। किन्तु भाभीजी की सजग दृष्टि पंडित जी के प्रत्येक ग्रास पर मुहर लगा रही है, यह मैं देख रही थी। आलू तो नहीं लिया ? थाली में कहीं अतिरिक्त नमक की चुटकी तो नजर बचाकर नहीं परस ली ?

"हैं—हैं, करती क्या है ? कटोरी—भर खीर परस रही है इन्हें। बस एक चम्मच चखने—भर को दे।" वह चट कटोरी—भर खीर डोंगे में वापस उलटने लगी तो पंडितजी ने अनुनयभरे स्वर में कहा, "अजी खा लेने दो, एक दिन की बदपरहेजी से कुछ नहीं होगा। खीर बहुत बढ़िया बनाती है गउरा, जरा चखकर देखो ना।"

"अच्छाऽऽऽ, अब समझी, क्यों बनारस आकर तेरे बने खाने का गुण बखानते हैं, रोज़ खीर खिलाती है ना इन्हें ?"

पंडितजी ने दयनीय दृष्टि से मेरी ओर देखा, जैसे कह रहे हों—कहीं अपना अपराध स्वीकार मत कर लेना।

"नहीं, भाभीजी, मैं क्या नहीं जानती कि पंडितजी को मीठा खाना मना है ?"

"खाना बनाना तो तू सचमुच खूब सीख गई है री! याद है एक दिन पालक छौंकने कढ़ाई में आग धधकी, तो तू कैसे डरकर बाहर भाग आई थी ?"

बहुत पहले भाभीजी एक बार शांति निकेतन में पालक छौंकने जा रही थीं कि धोबी आ गया था। बोलीं, "ले हींग—मेथी—मिर्च का बघार देकर चटपट छौंक डाल, में कपड़े मिला लूं।"

धधकते तेल में मसाले डाल, अनाड़ी हाथों से मैंने भीगा पालक डाला तो लपटों से कढ़ाई भर गई और मैं डरकर बाहर भाग गई थी।

सब याद था, सब कुछ, वह दिन भी जब इस वात्सल्यमयी गुरुमयी को पहली बार देखा था। तब भाभीजी पच्चीस या छब्बीस वर्ष की रही होंगी। गोरा गोल चेहरा, जो सामान्य—सी उत्तेजना से ही तमतमाकर लाल पड़ आता था। छोटी—सी नाक पर सोने की गोल लौंग, कसकर बांधी गई चोटी, जो खुलने पर अपने घने घेरे से पीठ को घेर कमर तक उतर आती थी। सीधे पल्ले की साड़ी। मुंह में सदा गुलगुलाता पान का बीड़ा। बड़ा—सा लाल टीका और मांग—भर सिंदूर।

तब तक उनका परिवार सीमित था। तीन बच्चे, जिनके वही नाम आज भी होंठों पर आते हैं, जिससे उन्हें तब पुकारा जाता था—बबुआ, पुतुल और तितिल। पंडितजी तब गुरुपल्ली में रहते थे। फूस की छत वाले इस जीर्ण मकान के दूसरे हिस्से में रहते थे गोसाईं जी। वहीं उनके युवा पुत्र वीरू की मृत्यु हुई थी। पंडितजी के छोटे—से आंगन में ही सहजन का पेड़ था। उसी के नीचे, गर्मियों में भाभीजी अपना 'हाथेर उनून' (हाथ की अंगीठी) खिसकाकर मोबाइल किचन ले आतीं और फिर वही कोना हम उत्तरप्रदेशी छात्राओं का प्रिय अड्डा बन जाता।

मुझे कभी भी याद नहीं पड़ता कि उतनी सारी छात्राओं को एकसाथ जिमाने में भाभीजी के स्निग्ध चेहरे पर विरक्ति की शिकन भी उभरी हो। बाहर से खूब बड़बड़ाएंगी, "लो आ गईं महारानी लीडर बनकर ! आओ, बैठो, तो पंगत जिमाऊं।" पर परसने में ऐसा स्नेह घृत के साथ—साथ दाल पर उलट देतीं कि बस अमृत का स्वाद आ जाता।

सावन आता तो हमारे लिए मेहंदी का बड़ा—सा बमगोला तैयार पिसा रहता। देखते ही देखते भाभीजी के चौके का पटला ही दो रस्सियों के बीच बिठा झूला पड़ जाता। कुछ देर तक हमें

गलियाकर, फिर स्वयं भाभीजी एक–आध पेंगों का आनन्द लेने हमारे बीच आ जातीं। आश्रम में बुधवार को ही छुट्टी होती थी और नौ वर्षों का शायद ही कोई ऐसा बुधवार रहा होगा, जब मैं भाभीजी के यहां नहीं पहुंची।

"देखा," मुझे देखते ही गंभीर होकर वह पंडितजी से कहतीं, "ढीठ कुकुर–सी खाना सूंघकर, टाइम से पहुंचती है। जानती है ना, कढ़ी बनी होगी।" पर परसने बैठतीं तो ना–ना कहने पर भी, कांसे की थाली में ढेर–सा चावल परस, कढ़ी से तर कर कहतीं, "अरी, तू नहीं आती तब भी मैं तेरे लिए परसकर वहीं ले आती।"

हम दोनों बहनों पर उनका ऐसा ही स्नेह था। किन्तु जहां मेरी बड़ी बहन जयन्ती को मुझसे अधिक सम्मानजनक पद प्राप्त था–जैसे उसे कभी सब्जी या पंडितजी के ब्लेड लाने बाजार नहीं भेजा जाता, चबेना सदा प्लेट में धरकर दिया जाता–वहीं पर मेरे लिए भाभीजी का हाट–बाजार करना एक प्रकार से बंधा था। ऐसे ही गर्म–गर्म रोटी को भी कभी भाभीजी चूल्हे से ही मेरी ओर उछाल देतीं और किसी सधे क्रिकेट खिलाड़ी की भंगिमा में मुझे उस बाउंसर को पकड़, उसी पर अचार की फांक धर उदरस्थ करना होता।

"एई गउरा, जा तो चटपट कोआपरेटिव से यह सब ले आ।" वह मुझे लिस्ट थमाकर कहतीं, "इक्कनी तू ले लेना और बबुआ को भी लेती जा साथ, इसे भी दो पैसे की लौजेंज दिला देना।

बस यही आदेश मुझे उखाड़ देता।

"नहीं, इसे नहीं ले जाऊंगी।" मैं कहती–"एक तो आपने कितना तेल डाल दिया है इसके बालों में कि एकदम चू रहा है, उस पर इतना लंबा कुर्ता पहना दिया है। कोई देखेगा तो सोचेगा, नीचे से कुछ पहने ही नहीं है।"

सचमुच ही भाभीजी कभी बबुआ को हास्यास्पद रूप से ऐसा लम्बा कुर्ता पहना देती थीं कि कुर्ते की लम्बाई में छिप गई हाफपैंट

का अस्तित्व ही सन्देहास्पद हो उठता था। असल बात कुछ और भी थी, बबुआ को साथ ले जाने में स्वयं मेरा स्वार्थ भी पग–पग पर आहत होता था। अपनी टाफी अत्यन्त द्रुतगति से उदरस्थ कर वह प्रायः मेरा कमीशन हथियाने ज़ोर–ज़ोर से रोता दुकान पर ही पसर जाता था।

"अच्छा, तो तू बड़ी मेम साहब बन गई है, क्यों ? बबुआ की कमीज लम्बी है, तो इन्हें उसे साथ ले जाने में अब शरम आती है ! जा–जा, भाग जा अपने होस्टल, खबरदार जो फिर यहां आई !"

भाभीजी का तमतमाया चेहरा देख फिर कुछ कहने का साहस नहीं होता। मैं चुपचाप बबुआ का हाथ पकड़ सौदा लेने निकल जाती। आश्रम में आए दिन नाटक होते रहते–कभी 'चित्रांगदा', कभी 'चंडालिका', कभी 'मायेर खैला' और कभी 'बाल्मीकि प्रतिभा'। भाभीजी को नाटक देखने का बेहद शौक था। उस दिन मेरी विशेष ड्यूटी रहती कि उनके लिए ऐसे स्थान का आरक्षण रखूं, जहां से वह बच्चों के साथ बैठ ठीक से नाटक देख सकें। स्थान का अभाव होता, तो पुतुल और बबुआ को मेरे पास भेज देतीं। "जाओ, बुआ के पास बैठकर देखो।" मुझे पुतुल का वही गोरा, भोला चेहरा याद आता है, वह नाटक के बीच ही मेरी गोद में सो जाती थी। नाटक की समाप्ति पर जब मैं सोई पुतुल को गोद में लेकर भाभी जी को सौंपने जाती, तो फिर फटकार पड़ती–"सुला दिया ना ? मैं जानती थी कि तू यही करेगी।"

"मैंने थोड़े ही सुलाया, खुद सो गई ···"

"खुद सो गई ! अरी, जगा नहीं सकती थी बीच–बीच में ! अब कौन इसे घर तक लादेगा, सुनूं ?"

पुतुल को फिर कभी नहीं देखा, पर तीन वर्ष पूर्व बबुआ मिलने आया, तो विश्वास ही न हुआ कि यह वही बबुआ है जो अपनी अन्यायपूर्ण धमकी से मेरा कमीशन हथियाने चीखता–चिल्लाता

जमीन पर पसर जाता था। "तू तो एकदम बुढ़ा हो गया है, रे बबुआ !" मैंने कहा तो वह हंसने लगा। पिता की निष्कपट भोली हंसी, अविकल उसी रूप में, पुत्र के चेहरे पर उतर आई है।

और तितिल, उसने भी मुझे एक बार रुलाया है। उस वर्ष इंटर की परीक्षा में एक भी प्रश्न उन पाठों से नहीं आया था, जो पंडितजी ने पढ़ाए थे। मैं पर्चा देकर आई, तो पंडित जी के पास जाकर देर तक उन्हें परेशान करती रही, "इस पर फर्स्ट डिवीजन तो गया ही, शायद पास भी नहीं हो पाऊंगी ..."

"चल, परे हट !" पंडितजी बोले, "हर बार यही कहती है।"

पर, मैं फिर भी नहीं गई, मिनमिनाती रही। अन्त में ऊबकर बोले, "अच्छा चल, तितिल से पूछें, उसकी कही बात कभी झूठ नहीं होती।" तितिल से पूछा गया, "क्यों तितल, बुआ पास हौबे ना फैल ? (बुआ पास होगी या फेल ?)" तब पंडितजी के सब बच्चे बंगला ही बोलते थे। अपनी बड़ी-बड़ी आंखों को पूरे चेहरे पर फैला, तत्काल नन्हीं तितिल ने मेरी ललाटलिपि को पढ़ उत्तर दिया था, "फेल।"

और मैं जोर से रो पड़ी थी।

"ऐ पागल !" पंडितजी मेरा रोना देख बुरी तरह घबरा गए थे—"तितिल का कहा क्या आज तक कभी सच हुआ है ? जो कहती है उसका एकदम उल्टा होता है। अजी, सुनती हो, बाहर आओ, जरा देखो मेयेर कांड, कांदेछ ढुलुर-ढुलुर (लड़की को देखो ढुलुर-ढुलुर रो रही है) !"

भाभीजी ने आकर मुझे एक झाड़ पिलाई। तितिल बेचारी सहमकर मुझे देख रही था। "ऐसी मूरख है तू ? अरी, चार बरस की तितल ने कह दिया, और तू फेल हो गई ? जा मुंह धो और होस्टल जा।"

दुर्गापूजा में आश्रम की छात्रपल्ली जहां छात्र-छात्राओं के घर चले जाने से भांय-भांय करने लगती वहीं पर गुरुपल्ली में

पूजा की अनोखी ही रौनक उमड़ पड़ती। नई-नई कोरी साड़ियों की महक, मिष्टान्नों की सुगंध और फिर बंगाल की बयार इसी महीने में सबसे अधिक मादक बन उठती है। भाभीजी के यहां भी प्रत्येक पूजा पर घर-भर के लिए नए कपड़े आते और उनकी उसी शापिंग में मैं उनकी निजी सचिव बनी उनके साथ जाती। मेरी रुचि पर उनका अन्त तक वही विश्वास बना रहा। एक दिन पूर्व ही मेरे लिए बुलावा आ जाता—कल भाभीजी के साथ बोलपुर जाना है। बोलपुर का वह छोटा-सा अनाकर्षक बाजार तब हमारे लिए बगदाद का बाजार था।

घर दूर होने के कारण हम पूजा की छुट्टियां आश्रम में ही बिताते थे, इसी से दिन-भर छुट्टी ही छुट्टी रहती। बोलपुर जाने का प्रस्ताव सदा पुलकित ही कर उठता था। सरोजरंजन चौधरी पंडितजी के प्रतिवेशी थे। उन्हीं की मोटरगाड़ी में उस बार हमें लिफ्ट मिली थी। यह कोई साधारण बात नहीं थी। सरोज बाबू के पूरे परिवार की ही भांति उनकी इस गाड़ी का भी एक अनोखा आभिजात्यपूर्ण व्यक्तित्व था। किसी ऐरे-गैरे नत्थू-खैरे को वह कन्धे पर हाथ नहीं धरने देती थी। अपनी उस काली मानिनी को वह नित्य दर्पण-सा चमकाए रखते। गोरे, सुदर्शन सरोज बाबू जब चुनी सुनहली पाड़ की शान्तिपुरी धोती की चुन्नटें साध, सफेद रेशमी कुर्ते में सोने के बटन चमकाते चालक की सीट पर बैठते, तो उनकी देह की तीव्र सुगंध पिछली सीट को भी सुगंध की पिचकारी से सुवासित कर देती। स्टियरिंग थाम कर वह मुस्कराकर हमसे पूछते, "की रे, देखली आमार अप्सरा के ? (क्यों री, देखा ना मेरी अप्सरा को ?)"

उस दिन उन्हें कहीं जाना था। मार्ग में बोलपुर में हमें छोड़ देंगे और लौटने में साथ वापस ले चलेंगे, यही तय हुआ था।

भाभीजी के साथ जाने का एक आनन्द यह भी था कि वह बोलपुर के पांचकौड़ी के ग्रैंड होटल का डबल आमलेट हमेशा

खिलाती थीं। वैसा स्वस्थ, होल्डौली आमलेट फिर जीवन में कभी खाने को नहीं मिला। उस छतविहीन होटल के चारों ओर चटाइयों की दीवारें थीं। एक लकड़ी की खंजड़–सी बूढ़ी मेज, दो–तीन बेंचें, सामने एक बोर्ड पर लिखा रहता–'पांचकड़ीर ग्रैंड होटल–एखाने डबल डिमेर आमलेट पावा जाए। (पांचकौड़ी का ग्रैंड होटल–यहां डबल अंडों का आमलेट मिलता है।)'

उस ग्रैंड होटल की कौन–सी वस्तु ग्रैंड थी, यह पहले समझ में नहीं आया। होटल की ही भांति होटल के उस पीर–बावर्ची भिश्ती–खर का अंग–प्रत्यंग भी जर्जर था। बस, तीन–चार दांतों की फोकला मधुर हंसी, विरल केशराशि से झांकता खल्वाट, बेहद टेढ़े धनुषाकर दोनों पतले हाथ, जिन्हें देखते ही एकदम स्पष्ट हो गया था कि ग्रैंड होटल ने अपना यह महत्त्वपूर्ण नाम स्वामी के किस अंग के बूते पर अर्जित किया है। लगता था, किसी अदृश्य मोटर से संचालित पांचकौड़ी के उन दोनों हाथों में ग्राहक का आर्डर पाते ही विद्युत् संचारित हो गई है–खटा–खट–खट–खट!

"की खाबै, दीदीमनी ? आमलेट ? (क्या खाओगी, दीदीमणि ? आमलेट ?)" खटा–खट–खट–खट–"मुर्गीर ना हासरे ? (मुर्गी के अंडों का या बत्तख के ?)"

बत्तख के बड़े–बड़े अंडों का आमलेट पांचकौड़ी के जादुई हस्तकौशल से एकदम डिब्बा बनकर फूल उठता है, यह मैं जानती थी, इसलिए वही फरमाइश करती। चटाचट अंडे तोड़ वह सर्र–सर्र फेंटता, तो तेज चल रही बिजली के पंखे की फाल–सी उसकी उंगलियां अदृश्य हो जातीं। फिर उसी तीव्र गति से प्याज कतरता। हरी मिर्च, धनिया, एक चम्मच गर्म दूध डाल फ्राइंग पैन अंगीठी पर चढ़ाता। एक सिगरेट के टीन के डिब्बे में से घी निकाल पैन पर डालता, और फिर आरम्भ होता उसका सबसे रोचक पर्व। फेंटी हुई सामग्री को गर्म पैन पर डाल वह उसे अंगीठी से तनिक उठा, बिना किसी चम्मच के हाथों ही हाथों में ऐसा उछालता कि

आमलेट सन्नाता एक क्षण को ऊर्ध्वमुखी छलांग लगा, स्वयं पलट फिर पैन में छनछनाने लगता। ठीक वैसे, जैसे दक्ष बाजीगर मुंह से निकाले गए लोहे के गोले को हवा में उछालकर कहता है–यह गया, यह गया···

सांस रोके मैं उसके पलटते आमलेट को भी जादू का तमाशा देख रहे मुग्ध दर्शक की आंखों से देखती। लगता, आमलेट भी अब आकाश ही आकाश में खोकर रह जाएगा···।

"ने दीदी खा, ऐमन आमलेट कोथाओ पावी ना। (ले दीदी खा, ऐसा आमलेट तुझे और कहीं नहीं मिल सकता।)," वह हंसकर प्लेट मेरी ओर खिकसा देता।

पर उस दिन भाभीजी निरन्तर मेरे उस जलपानपर्व में विघ्न डालती रही थीं, "ए खा जल्दी, साड़ी भी तो लेनी है। तीन बजे सरोज बाबू लेने आ जाएंगे।" अपनी विलम्बित जुगाली को बड़ी अनिच्छा से शीघ्र निबटा मैं उनके साथ बाहर निकल आई थी।

हमारा दूसरा पड़ाव हुआ था विश्वनाथ की दुकान पर। विश्वनाथ मेरा सहपाठी था, और ऐसा कैसे हो सकता था कि उसकी दुकान से कुछ न खरीदा जाए ? क्योंकि इकन्नी देने पर ही वह थैला–भर टाफी थमा देता था, बशर्ते उसके पिता दुकान की गद्दी पर न हों। उस दिन सौभाग्य से वही दुकान का एकछत्र सम्राट था। इकन्नी फेंकते ही थैला–भर टाफियां उसने मुझे थमा दीं तो भाभीजी ने गम्भीर मुखमुद्रा बनाकर कहा, "दांड़ा, बलबो तोर बाबा के मेयेदेर देखे, आपनार छेले दुकानटा शेष करे दिलो! (आने दे तुम्हारे बाप को, उनसे कहूंगी कि लड़कियों को देखते ही आपके लड़के ने दुकान लुटा दी है !)"

तब बोलपुर में कपड़े की एक ही बड़ी दुकान थी। हमें देखते ही दुकानदार ने ढेरों साड़ियां फैला दीं। उस ढेर से एक सुन्दर धानी घनेर वाली साड़ी छांटने में मुझे प्रयत्न नहीं करना पड़ा।

धानी रंग में चौड़ा मूंगा पाड़ और वैसी ही मूंगा डोरियां। दाम थे सात या आठ रुपए। उन दिनों सात–आठ रुपए में ही जो साड़ी मिलती थी, वह आज शायद सौ में भी नहीं मिलेगी। इतने में ही चतुर दुकानदार ने एक और गट्ठा खोलकर रख दिया, "एटाओ नीन मां, एके बारे लतून डिजाइन (इसे भी लीजिए, मां, एकदम नई डिजाइन है।)" उसने अपने मीठे बीरभूमि लहजे में कहा, और भाभीजी देखते ही उस पर रीझ गईं। पीला रंग, लाल चौड़ा पाड़, पाड़ में खिले कमल के लाल–लाल फूल, तरंगित, लताओं से लगे पद्म पत्र और डोरे से उभरी पंक्ति–सीमंतेर सिंदूर अक्षय होक। (मांग का सिंदूर अक्षय हो)। साड़ी पूरे पन्द्रह की थी।

दाम देखकर भाभीजी का चेहरा म्लान हो गया। गांठ में तो एक दस ही का नोट बचा था। मेरी ही छांटी साड़ी को उन्होंने बड़ी अनिच्छा से उठाया और विवश लोलुप दृष्टि से उस पीली साड़ी को देखकर कहा, "थाक, ऐखन टाका नेंई (रहने दो, अभी रुपए नहीं हैं)।"

"निए जान निए जान, मां, टाका पाठिए देबेन (ले जाइए, ले जाइए, मां, रुपए भेज दीजिएगा)।"

"नहीं, भाभीजी," मैंने उन्हें टोक दिया, "आपको यह देहाती साड़ी नहीं लेनी होगी।"

"तू चुप कर, आई है इसे देहाती साड़ी कहने वाली!" हाथ की साड़ी पटक उन्होंने फिर वही देहाती साड़ी खरीद ली थी।

अष्टमी के दिन जब उन्होंने वह साड़ी पहनी तो खिल गई थीं। मुंह में गुलगुलाता पान का बीड़ा, गोरे दमकते ललाट पर बड़ा–सा ईंगुरी टीका, लाल रेशमी चूड़ियां, मांग–भर सिंदूर और उसी से मेल खाता वह लाल पाड़, जो अपने खिले कमल, पद्म पत्र और उस पंक्ति के साथ ठीक माथे के ऊपर छत्र–चामर–सा डोल रहा था, "सीमंतेर सिंदूर···"

यही नहीं, इसके बाद उस साड़ी को पहने एक दिन भाभीजी की प्रतिवेशिनी आलो बऊदी (आलो भाभी) को देखा, तो भाभीजी ने चट मेरे कान में फुसफुसाकर कहा, "देखा, मेरी वही साड़ी है जिसे तू मूरख देहाती कहती थी; आज तीसरी बार मांगी गई है।"

पूरे अड़तीस वर्ष बाद, एक बार फिर मुझे भाभीजी के लिए साड़ीचयन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। दोनों तब राजभवन के फ्लैट में रुके थे। पंडितजी कलकत्ता से लौटे थे। मैंने जाते ही भाभीजी का छोटा–सा टीन का बक्सा खोला, "देखूं, कलकत्ता से कौन–सी साड़ी आई है आपके लिए?"

"देखा," भाभीजी ने पान लगाते–लगाते मुस्कराकर पंडितजी से कहा, "इसकी पुरानी आदत अभी भी नहीं गई। तब भी आते ही मेरा बक्सा खुदबुदाती थी।"

मैंने देखा, उस निरीह बक्से में अब भी वे ही ढाक के तीन पात थे—तीन गुड़ी–मुड़ी साड़ियां, जैसे घड़े से निकाली गई हों, एक शाल और पानबहार का डिब्बा।

"छिः छिः! पंडितजी," मैंने कहा, "इतना बड़ा रवींद्र पुरस्कार भी मिला, तब भी भाभीजी के बक्से में वे ही तीन सूती साड़ियां—दशा देखिए जरा, मैं ले जा रही हूं, भाभीजी, इस्त्री कराके दे जाऊंगी।"

"अच्छा रख दे तो बक्से में। इस्त्री–विस्त्री नहीं करानी होगी। रेशमी साड़ी हमने इस्त्री करने रख दी है···"

"पूछ, कहां इस्त्री हो रही है?" पंडितजी ने मुस्कराकर कहा।

मैंने कुछ नहीं पूछा। मैं जानती थी, इसी से गद्दा उठा दिया। भाभीजी की साड़ी हमेशा ऐसे ही गद्दे के नीचे दबी रात–भर पड़ी रहती।

"धोबी को बेकार पैसा दूं, ऐसी मूरख नहीं हूं मैं।" उन्होंने कहा।

"वाह, क्या बढ़िया इस्त्री हुई है ... देखिए।" मैंने साड़ी निकालकर उन्हें दिखाई। सैंकड़ों शिकनों से भरी साड़ी देख पंडितजी ठठाकर हंसे, फिर बोले, "आज इन्हें अपने साथ ले जाकर एक चिकन की साड़ी खरीदवा ला, बहुत दिनों से इनका मन है। कितने तक आ जाएगी ?"

"कम–से–कम डेढ़ सौ।" मैंने कहा तो भाभीजी तुनक गईं, "इससे क्यों पूछते हो ? सूती साड़ी, और डेढ़ सौ। उंह ! अजी, तीस–चालीस में खूब बढ़िया आ जाएगी। इसे बकने दो।"

"तब आप ही जाकर खरीद लाइए, मैं नहीं जाऊंगी। साड़ी का क्या, तीस में भी आ जाएगी, पर आपको अच्छी साड़ी खरीदनी है या बनारसी गमछा ?"

"ऐ गउरा !" भाभीजी ने आंखें तरेरकर मुझे देखा, "हमसे कानून मत छांट ! पचास दीजिए, हम ले आएंगी।"

बड़ी बहस के बाद सौ रुपए लेकर हम जाने लगे तो मैंने कहा, "पंडितजी, इतनी धूप में अमीनाबाद तक जाते रिक्शा में दम निकल जाएगा। आपकी गाड़ी बाहर खड़ी है, ले जाएं क्या ?"

"नहीं।" पंडितजी ने डपटकर कहा, "सरकारी गाड़ी है, अमीनाबाद में चिकन की साड़ी खरीदने के लिए नहीं। मैं गाड़ी में न रहूं और तुम दोनों जाओ, ठीक नही लगता ..."

"तब आप भी चलिए ना," मैंने धृष्टता से कहा था, "लोग सोचेंगे आप संस्थान के काम से आए हैं।"

"क्यों नहीं, संस्थान के लिए रेवड़ी–गजक खरीदने ..... क्यों ? जा–जा बहस मत कर।"

"अरे इनसे क्यों माथा मारती है," भाभीजी बोली, "इनके 'फलां' चाहे पत्नी को लेकर इसी गाड़ी में दिन–भर इधर–उधर घूमें, पर यह हैं राजा हरिश्चन्दर !"

बहुत दिनों बाद, जब पंडितजी को संस्थान के काम के लिए

भी यह गाड़ी नहीं दी गई और उन्हें रिक्शा में जाते देख, मैंने 'वातायन' में उस अन्याय की आलोचना की, तो पंडितजी ने मुझे फटकारा था, "क्या लिख देती है तू ? रिक्शा में चला गया तो कौन–सी आफत आ गई ?"

"नहीं, एकदम ठीक लिखा तूने, शाबाश !" भाभीजी ने मेरी पीठ थपथपाई थी, "इन्दिराजी होतीं तो हिम्मत थी किसी की ?"

बात एकदम ठीक कही थी उन्होंने। अपने आश्रमगुरु का इन्दिराजी जो सम्मान करती थीं, उसकी चर्चा प्रायः ही स्वयं पंडितजी किया करते थे। आज जनता शासन अपने कृतित्व की लाख प्रशंसा करे, इसमें कोई संदेह नहीं कि अपने उस संक्षिप्त स्वप्रशंसित शासनकाल में अपने उस वरिष्ठ साहित्यिक को वह सम्मान वह नहीं दे पाया जो उनका जन्मसिद्ध अधिकार था।

उस दिन हम रिक्शा में ही गए और वर्षों बाद जैसे हम दोनों एक बार फिर बोलपुर की कुंजगलियों में पहुंच गए थे। मैंने खींचकर भाभीजी को नेतराम की गर्म जलेबियां खिलाईं। शिव मंदिर के पास की दुकान से ठेठ मघई पान खिलाकर कहा, "भाभीजी, सुना है, कमलापति त्रिपाठी के लिए इसी दुकान का पान हमेशा जाता है।"

पान गुलगुलाते ही उन्होंने किसी अनुभवी हीरे के जौहरी की भांति उसे परख दिया, "हां भई, है तो असली मघई।"

छंगामल की दुकान में गए, तो उसने एक से एक दर्शनीय चिकन की साड़ियों का अम्बार लगा दिया, पर एक भी दो सौ से कम नहीं। भाभीजी का चेहरा एक बार फिर वैसा ही म्लान पड़ गया, जैसा बोलपुर की उस छोटी–सी दुकान में पड़ा था। मैंने दूसरा गट्ठर खुलवाया और एक सुन्दर–सी बादामी पसन्द कर उठा ली। दाम भी थे कुल अस्सी।

"यह तो एकदम बुढ़ौना रंग है री, जरा गहरा छांट।" उन्होंने कहा।

"मैंने आपकी उम्र से मेल खाता रंग छांटा था।" मैंने चुटकी ली।

"अरी, हमें कौन अपने लिए लेनी है।" उन्होंने धीमे स्वर में कहा।

"तब ?" मैं चौंकी।

"बहू को दूंगी री, उस बेचारी का बहुत मन था। अब उसी के दिन तो हैं पहनने–ओढ़ने के। पर सुन, अपने पंडितजी से कुछ मत कहना।"

मैं नहीं जानती वह साड़ी उनकी किस भाग्यशालिनी पुत्रवधू को मिली, पर आज के इस घोर स्वार्थी युग में कितनी सासें निष्कपट औदार्य से वार्धक्य में दी गई पति की प्रेमभेंट ऐसे स्नेहभाव से बहू को थमा सकती हैं ?

इसके कुछ महीनों बाद फिर मुझसे मिलने लखनऊ आईं तो बड़ी जल्दी में थीं, "बड़ी जल्दी में हूं, ले इसे रख ले।" उन्होंने भुने चबेने की थैली मुझे थमाई, "तेरे लिए लाई थी, तुझे बहुत पसन्द है ना !" मुझे उनके हाथों का बना वह भुना चिवड़ा बहुत पसन्द था। पता लगा, छोटे पुत्र के लिए कोई रिश्ता आया है, लड़की लखनऊ में ही है, उसे देखने के लिए दोनों जा रहे हैं।

"मैं भी चलूं ?" मैंने पूछा।

पंडितजी बड़े उत्साह से बोले, "चल, चल, तैयार हो जा, देर मत करना।"

"नहीं," भाभीजी ने गम्भीर होकर कहा—पर चुहल उनकी पान की पीक के साथ होंठों पर उतर आई, "इसे मत ले चलो, यह है मेम साहब, बीसियों मीन–मेख निकालेगी। कुछ पसन्द नहीं आया तो चट से वहीं कह देगी।"

"अच्छा," मैंने कहा, "वह दिन भूल गईं जब साड़ी पसन्द करवाने भी मुझे साथ बोलपुर ले जाती थीं ?"

"वह तो अब भी ले जाती हूं, पर बहू पसन्द करवाने

नहीं ....." वह हंसीं और बोली, "मुंह क्या देख रही है, जा जल्दी साड़ी बदल आ।"

"नहीं, भाभीजी, मुझे अभी काम से बाहर जाना है ....." मैं नहीं गई थी।

जाना मुझे कहीं नहीं था, पर भाभीजी ने ठीक ही कहा था, उन दो असाधारण व्यक्तियों के साये में, मैं जिसे भी देखती उसकी अल्पज्ञता की ही मेरी दृष्टि में प्रखर होने की सम्भावना थी।

इसके बाद हैदराबाद गई, तो तितिल ने बताया, मां बीमार हैं। रक्तहीनता बहुत बढ़ने पर ही तब पता चला जब वह एक बार गिर पड़ीं। पंडितजी उन्हें दिखाने लखनऊ लाए तो अकेले ही मुझसे मिलने आए।

"चल मेरे साथ, जरा समझा उन्हें, कल समय भी ले लिया है, पर कहती हैं नहीं जाएंगी, न दिखलाएंगी, न अब रक्त लेंगी।"

पंडितजी का चेहरा काला पड़ गया था, दीर्घ देह झुककर सिकुड़ गई थी। पहली बार मुझे लगा कि पंडितजी जीवन की बाजी हार रहे हैं।

"पंडितजी," मैंने डरते–डरते पूछा, "कहीं ... ?"

"नहीं ... नहीं," मुझे बीच में ही रोककर, उन्होंने जैसे स्वयं अपने सहमे चित्त की उसी शंका को जोर–जोर से खंडन कर बुहारना चाहा, "कैंसर–वैंसर नहीं है, पर्निशस एनीमिया है, कई बार पहले भी खून दिया जा चुका है ..."

मैं गई तो देखा, भाभी बैठी पान लगा रही हैं, एकदम वैसी ही। शरीर में किसी रोग का कोई चिन्ह नहीं। पर, तभी हमारी आंखें मिलीं, और उन्हीं आंखों में चिरंतन साहचर्य के संभावित विछोह का भय जैसे स्थिर होकर जम गया था। मैं उसी क्षण समझ गई थी कि आसन्न मृत्यु की पदचाप उन्होंने सुन ली है।

"अब हम गोदागोदी नहीं करने देंगी। अचार के नींबू–सा गोद दिया है, देख ..."

उन्होंने अपनी बांहें दिखाईं। सचमुच ही गोदने की स्याही बांहों में उभरकर फैल गई थी। "मैं क्या तुझे बीमार लगती हूं ?"

बड़ी चेष्टा से फिर उन्हें मेडिकल कालेज ले गए थे। यही मेरी उनसे अन्तिम भेंट थी।

कौन जानता था कि जो सामान बांधे जाने को तत्पर खड़ी हैं वही पिछड़ जाएंगी और जिन्हें नहीं जाना था वह चटपट पहले चले जाएंगे ?

आज भाभीजी की मृत्यु का समाचार भी मिला, पूरे एक महीने बाद। ठाकुरप्रसादसिंह का पत्र सामने धरा है, "पिछले दिनों बनारस गया, पंडितजी तो गए ही, उनके पीछे माताजी भी चली गईं। शाम को उनके उस विशाल मकान के सामने खड़ा हुआ, जिसमें ताले लगे हुए थे और कहीं पर रोशनी नहीं थी। मुझे डेढ़ साल पहले कहे गए पंडितजी के कुछ वाक्य याद आए। और जी भर आया। उन्हें बनारस छोड़ने में इसलिए कष्ट होता था कि वह इस मकान को बहुत पसंद करते थे। लेकिन उन्हें डर था कि जब वह नहीं रहेंगे तो इसमें कोई दिया जलाने वाला भी नहीं होगा। शायद उनके मकान के बाहर की चटपटी देवी का प्रताप है यह सब ! अक्सर जब वह घर से बाहर निकलते थे, तो घूमकर देवी को झुककर नमस्कार करते थे, इस विश्वास के साथ कि जिस काम के लिए वह जा रहे हैं, वह चटपट हो जाएगा। मेरा खयाल है कि बिना किसी से बताए हुए ही उन्होंने देवी से अपनी मुक्ति की प्रार्थना की होगी, और हमेशा की तरह देवी ने इस बार भी उनकी बात मान ली होगी ....."

शायद ऐसा ही हुआ हो।

आज अपने एकांत के इन दुर्वह क्षणों में, अन्तरात्मा के चाबुक रह–रहकर मेरी चमड़ी उधेड़ रहे हैं। बार–बार भाभीजी के पास जाने का निश्चय करने पर भी मैं क्यों नहीं जा पाई ?

पंडितजी की मृत्यु का समाचार सुनते ही कितनी बार जी में आया था कि भागकर उनसे लिपट जाऊं। क्या अपने अभिनंदन के लिए मेरा इंदौर जाना उतना जरूरी था ? अपने उस सम्मान की ओछी ललक के सामने मुझे जननी–सी प्रिय उस गुरुपत्नी का स्नेह, वात्सल्य सब भूल–बिसर गया। किन्तु मनुष्य का अन्तर भी कैसा विचित्र है ! कभी उसे उपालंभ से बींधता है, कभी स्वयं उसी की कैफियत दे उसे ढांढस बंधाता है। इंदौर स्वीकृति बहुत पहले भेज चुकी थी। उनके कार्ड छपकर बंट चुके थे। हवाई टिकट भी मुझे भेज दिया गया था। न जाती तो कैसी अभद्रता होती ! फिर लौटती ही बीमार पड़ गई।

पर अब सोचती हूं, अच्छा ही हुआ, नहीं गई। लाल टीके से विरहित उस दमकते शून्य ललाट को, चूड़ी–विहीन उन रिक्त कलाइयों को देख लेती तो शायद उनकी वही वैधव्यदग्ध छवि मुझे जीवन–भर सालती रहती। मेरे स्मृति के जीर्ण एलबम में तो उनका वह धुंधला–सा भूरा दुर्लभ चित्र अभी भी लगा है। मुंह में पान का बीड़ा, हाथ में छनकते रेशमी लच्छे, गोरे ललाट पर सिंदूर का बड़ा–सा टीका, मांग–भर सिंदूर और उसी से मेल खाता माथे पर छत्र–चामर–सा डुलाता, हावड़ा हाट की पीली साड़ी का लाल चौड़ा पाड़–पाड़ में फैली लाल कमल की पंखुड़ियां, तरंगित लताओं के बीच लाल डोरे की उभरी वह पंक्ति–"सीमंतेर सिंदूर अक्षय होक !"

मरण सागर पारे

दुर्गा सप्तशती के द्वितीय अध्याय में ब्रह्मा शंकर तथा इन्द्र आदि देवताओं के शरीर से एक भारी तेज के निकलने का उल्लेख है, महान तेज का वह पुंज, जाज्वल्यमान पर्वत–सा जान पड़ा, एकत्रित होने पर वह एक नारी के रूप में परिणत हो गया और अपने प्रकाश से तीनों लोकों में व्याप्त जान पड़ा।

"अतीव तेजसः कूटं ज्वलंतमिव पर्वतम् ददृशुस्ते सुरास्तम, ज्वाला व्याप्त दिगंतरम। अतुलं तत्र तत्तेजः सर्वदेव शरीरजम एकस्थं तद्भून्नारी व्याप्त लोकत्रयं त्विषाः।"

आज, जब एक ऐसा ही तेजपुंज, जिसका प्रकाश लोकत्रय में पूर्ण रूप से व्याप्त हो चुका था, हमारे ही दुष्कर्मों के प्रभाव से सहसा शून्य में विलीन हो, केवल भारत ही को नहीं समस्त विश्व को निःसीम अंधकार में डुबो गया है, तो लगता है कि किसी ने ठीक ही कहा है कि मरने वाला नहीं मरता, पीछे रहने वाला मरता है। यह भी कैसी विडंबना है कि जब तक मनुष्य पृथ्वी पर रहता है, उसकी महत्ता, उसके देवदुर्लभ गुणों में भी हमें दोष–ही–दोष दृष्टिगोचर होते हैं, उसकी महानता का आभास हमें सहसा तब होता है, जब वह नहीं रहता। एक भयावह स्मिता हमें हर क्षण काट खाने को दौड़ती है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि गोलियों की हृदयहीन बौछार ने केवल इन्दिरा जी को ही निष्प्राण नहीं किया, एक–एक देशवासी की देह आज अदृश्य गोलियों की बौछार से निष्प्राण हो गई है।

एक हतबुद्धि स्तब्धता, जिसने वाणी को ही नहीं छीन लिया, हमारे विवेक को भी हमसे छीन लिया है। ऐसा तेजस्वी, समर्थ एवं साहसी "ज्वलंतमिव पर्वतम्" तेजपुंज क्या बार–बार पृथ्वी पर प्रकट होता है? हम भारतवासियों के पूर्वकृत पुण्यों के फलस्वरूप हमें हमारी हर मुश्किल आसान करने वाली जो विलक्षण नेता मिली थी, वैसी कोई अन्य शक्ति हमें अब मिलेगी ? क्या, अब किसी के सम्मुख हम उसी श्रद्धा और विश्वास से नतमस्तक होकर कह सकेंगे कि सर्वेश्वरी तुम इसी प्रकार तीनों लोकों की बाधाएं शांत कर, हमारे शत्रुओं का नाश करती रहो। एक समर्थ, सक्षम कूटनीतिज्ञ के लिए बहुरूपिए की भांति, अनेक रूपों का चोला धारण करना अनिवार्य है, ऐसा हमारे मनीषियों ने कहा है।

सत्यानृता परुषा प्रियवादिनी च नित्यव्यया प्रचुर धनागमा च वेश्यनिरिव नृपनीति अनेक रूपा।

वह सत्य भी बोले, झूठ भी, परुष वचन भी बोले, प्रियवादिनी भी रहे, नित्य धन व्यय करे प्रचुर धन भी अर्जित करे, वेश्या की भांति राजनीति को अनेक रूप धारण करने पड़ते हैं। स्वाभाविक है कि ऐसी दुर्लभ ख्याति प्राप्त करने के लिए कभी प्राणों से प्रिय व्यक्ति से भी दुराव–छिपाव करना पड़ता है, मित्र कम बनते हैं शत्रु अधिक। नारी के लिए राजनीति का पथ इसी से अधिक कंटकाकीर्ण रहता है किन्तु सफलता के इन कंटकों को रौंदती इन्दिरा जी स्वयं ही ख्याति के हिरण्यमय तुंग आसन पर आसीन नहीं हुईं, देश को भी उन्होंने उसी तुंग आसन पर आसीन कर दिया।

मैंने जब शांतिनिकेतन में प्रवेश लिया, इन्दिरा जी तब वहां कलाभवन की छात्रा थी, तीन–चार महीने बाद ही वे आश्रम से चली गई थीं। वहां उनकी मित्रमण्डली सीमित थी—पारुल चौधरी, अमला और विमला तर्वे तब उनकी अभिन्न मित्र थीं। पारुल, सुधीर

खास्तगीर की पत्नी मुकुल दी की छोटी बहन थीं और अमला, विमला, बिहार से आई जुड़वा बहनें थीं, नाम था कृष्णमोहिनी, विश्वमोहिनी किन्तु गुरुदेव ने नाम धरा था अमला, विमला। शक्ल सूरत एमदम एक सी, ऐसा–अविकल प्रतिरूप कि एक को छिपा, दूसरी को दिखा दो।

अमला दी तब इन्दिरा जी की अभिन्न मित्र थीं। पारुल दी से तो मैं आज तक फिर नहीं मिल पाई किन्तु अमला दी से मिलती रहती थी। उनका विवाह बनारस के प्रख्यात राय परिवार में राय सत्यव्रत से हुआ। बाद में उन्हें केंसर हो गया और विदेश में ही उनकी मृत्यु हुई, वे प्रायः ही बतलाती थीं कि इन्दिरा जी से उनका पत्र–व्यवहार निरंतर बना रहा और वे फोन पर उनकी कुशल पूछती रहती हैं, उनकी स्मृति में उनके पति ने एक स्कूल खोला और नाम रखा 'अमलालय'। कुछ वर्ष पूर्व उसी स्कूल में वार्षिक जलसे में, सत्यव्रत जी ने मुझे मुख्य अतिथि के रूप में आमंत्रित किया था, किसी कारणवश मैं वहां नहीं पहुंच पाई। गत वर्ष गई तो रायसाहब ने बताया कि इन्दिरा जी से उन्होंने दो वर्ष पूर्व पधारने का आग्रह डरते–डरते ही किया था कि कहां देश की प्रधानमंत्री का अमूल्य एक–एक क्षण और कहां यह छोटा–सा स्कूल, किन्तु वे आईं, अपने व्यस्त कार्यक्रम के बीच भी उन्होंने अपनी आश्रम की उस सहपाठिनी के छोटे से स्कूल के लिए समय निकाल ही लिया और लहरतारा की उस जनसंकुल अलीगलियों से होती वहां पहुंच गईं। आज 'अमलालय' का एक पूरा कमरा आश्रम में अमला दी के साथ खिंची इन्दिरा जी की तस्वीरों से भरा है। छोटा–सा स्कूल भी सहसा उस महिमामयी अतिथि की आगमनी से महिमामय हो उठा, अमला दी मेरी भी अभिन्न मित्र थीं, किन्तु अपनी अकर्मण्यता के बीच थोड़ा–सा समय निकाल मैं लखनऊ से बनारस नहीं पहुंच पाई। वहीं देश की प्रधानमंत्री देश–विदेश में निरन्तर चक्र–सी घूमती रहने पर भी, अक्लांत

औदार्य से अपनी वर्षों पूर्व की मैत्री को सफलता से निभा गईं।

कुछ वर्ष पूर्व मैं अपने सरकारी आवास में मजबूती से पैर टिकाने की प्राणपण से चेष्टा करने पर भी कभी–कभी धैर्यच्युत हो रही थी। कुछ सरकारी दलीलें मुझे घर से अपदस्थ करने पर तुली थीं कि मैं पत्रकारिता के किस दायरे के बूते पर वहां जमी थी, तब ही एक दिन हजारीप्रसाद जी ने मुझसे कहा, "बड़ी मूर्ख हो, चलो मैं तुम्हें इन्दिरा के पास ले जाता हूं, तुम्हें पता है वह अपने आश्रम के सहपाठियों के प्रति कितना स्नेहप्रवण हैं, फिर तुम तो उसी समय वहां थीं। मैं कहूंगा उनसे। देखूं फिर तुम्हें कौन हटाता है।"

किन्तु मैं नहीं गई, जाती भी कैसे ? क्या मुझे भी उन्हीं की भांति आश्रम का गुरुमंत्र नहीं मिला था ?

"विपदे मोर रक्षा करो ए नहीं मोर प्रार्थना विपदे आमी ना जैनो करी भय।"

"मेरी यह प्रार्थना नहीं है कि तुम विपत्ति में मेरी रक्षा करो। मुझे योग्य बनाओ कि मैं विपत्ति से कभी डरूं नहीं।"

एक और प्रसंग याद आता है, आश्रम में कोई विशिष्ट अतिथि आने वाले थे, जहां तक स्मरण पड़ता है चांगकाई शेक थे। पण्डितजी के साथ इंन्दिरा जी भी आश्रम में आई हुई थीं। कुछ छात्राओं को अभ्यर्थना के लिए चुना गया था। मैं भी उन्हीं में से एक थी, एक सी साड़ियां पहन हाथ में चन्दन पुष्प का थाल लिए हम पंक्तिबद्ध खड़ी थीं। अतिथि के आने में कुछ विलम्ब था, सतर खड़ी रहने का आदेश भूल, हमें न जाने किस प्रसंग ने गुदगुदाया कि पूरी पंक्ति में हंसी की फूलझड़ी–सी छूट गई, हम हंसने लगे, वह भी पंक्तिच्युत होकर।

सहसा न जाने कहां से पण्डित जी, आंधी के वेग से आ

गए। मैं ही सामने पड़ी। उन्होंने मेरे दोनों कंधे झकझोरकर कहा, 'सीधी खड़ी नहीं रह सकती !"

पूरी पंक्ति को जैसे सांप सूघ गया।

दूर बूड़ी दी (गुरुदेव की पौत्री नन्दिता कृपलानी) के साथ खड़ी इन्दिरा जी ने मेरा झकझोरा जाना शायद देख लिया था। पत्र पुष्पार्चन के बाद वे मेरे पास आईं और बड़े प्यार से बोलीं, "तुम्हें बुरा तो नहीं लगा—ही डज नॉट मीन इट (उनका मतलब वह नहीं था)

और फिर सहसा वर्षों बाद उनसे मिली पद्मश्री ग्रहण कर जलपान के लिए जब उनके साथ एकत्रित हुए, तो श्री यशपाल जैन ने मुझे उनसे मिला कर कहा, "यह भी शान्तिनिकेतन की प्राक्तन छात्रा हैं।"

जी में आया कहूं, मैं वही हूं जिससे आपने पूछा था कि बुरा तो नहीं लगा।

उन्होंने स्वयं ही पूछा, "तुम कब से कब तक वहां थीं," और फिर मैंने उन्हें बताया कि आपके विवाह पर जब उपहार में श्रीनिकेतनी पलंगपोश भेजे गए थे तब मैं भी आश्रमिका संघ की सदस्या थी, हम सबके हस्ताक्षर उसमें थे। मैं जब उनसे बात कर रही थी तो एक फोटोग्राफर ने उनके साथ मेरा चित्र भी खींचा। मैं आज तक उस दुर्लभ चित्र के लिए तरसती ही रह गई, चित्र के साथ ही वह चित्र लेने वाला भी अन्तरिक्ष में विलीन हो गया। आज तक मुझे वह चित्र नहीं मिला।

कई बार जी में आया अपनी पुस्तक 'आमादेर शान्तिनिकेतन' उन्हें स्वयं जाकर भेंट करूं क्योंकि वह पूरी गुरुपल्ली वही हैं, जो उन्होंने कभी देखी थी।

जब भी आश्रम में किसी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति के निधन का

समाचार पा कर, शोक सभा आयोजित होती थी तो हम गुरुजनों सहित नतमस्तक हो, रवीन्द्र संगीत की एक विशिष्ट पंक्ति से श्रद्धा के पत्रपुष्प अर्पित करते थे। केवल वही गाना गाया जाता था—इन्दिरा जी ने भी निश्चय ही आश्रम में कभी इन पंक्तियों को दुहराया होगा, इसी से जी में आ रहा है कि आज विश्व भर में दूर—दूर तक बिखरे हम आश्रम के समस्त प्राक्तन छात्र—छात्राएं अपनी मौन शोकाकुल श्रद्धांजलि अपनी उस विलक्षण प्राक्तन छात्रा को उसी पंक्ति के अर्घ्य से दें।

"मरण सागर पारे तोमरा अमर
तोमादेर स्मरि"

(मरण सागर के पार भी तुम अमर हो, हम तुम्हारा स्मरण करते हैं।)

काल के हस्ताक्षर

बहुत वर्षों बाद, किसी सुन्दर परिचित चेहरे पर क्रूर काल के हस्ताक्षर देख हम जैसे क्षण भर को स्तब्ध रह जाते हैं, ऐसा ही अनुभव, वर्षों बाद दिखे किसी परिचित शहर को देखकर भी होता है। कलकत्ता को जब मैंने 40 वर्षों के सुदीर्घ अन्तराल के पश्चात् देखा तो लगा इस महानगरी का सम्पूर्ण भूगोल ही बदल गया है। हावड़ा ब्रिज की जानलेवा भीड़, गाड़ियों, ठेलों, ट्रकों, कारों की अन्त अशेष पंक्ति सहमे त्रस्त क्लांत पदयात्री, धुएं की प्रगाढ़ कुहेलिका, यह सब देख 40 वर्ष पूर्व की वह संध्या स्मरण हो आई। जब इसी हावड़ा ब्रिज के फुटपाथ पर लगी, छोटी–छोटी दुकानों पर हम बड़े आराम से घूमघाम, हावड़ा हाट की पांच–पांच रुपए की साड़ियां खरीदते थे। अब शायद पांच रुपए में एक गमछा भी नहीं मिलेगा।

शांति निकेतन में तब अपना परीक्षा केन्द्र नहीं था, हाई स्कूल इंटर के छात्र–छात्राओं को परीक्षा देने विद्यासागर कॉलेज जाना पड़ता था।

अधिकांश छात्र–छात्राओं के कलकत्ते में अपने आत्मीय स्वजन थे, किन्तु दूर से आए छात्र–छात्राओं के रहने की व्यवस्था, किसी हॉस्टल में की जाती थी। उस बार बीडन स्ट्रीट के जिस छात्रावास में हमारे रहने की व्यवस्था की गई थी वहां अचानक चेचक का प्रकोप होने से हम परीक्षा देने जोड़ासांको चले आए थे, गुरुदेव के सचिव, अन्नदा बाबू हमें परीक्षा दिलवाने वहां लिवा

लाए और जोड़ासांकी के एक बड़े से कमरे में, हमारे तब तक रहने की व्यवस्था कर दी गई थी, जब तक अन्यत्र कहीं उचित प्रबन्ध न हो। तब वहां बीच के एक बड़े हाल में एक बृहत् झूला लगा रहता था, उसी पर झूल–झूल कर हम बेर के अचार को चाटते–चाटते, परीक्षा की तैयारी करते। सामने था एक बड़ा–सा 'माठ' या फील्ड जिसमें चार बजे से ही, फुटबाल प्रेमी कलकत्ते के किशोर, हो–हल्ला करने लगते तो अन्नदा बाबू बरामदे में खड़े होकर गरजते, 'ओरे, तोरा ऐतो चैंचामेंची कोरिश ना, आश्रमेर मेयेरा ऐशेछे परीक्षा दिते।" (अरे, तुम लोग इतना हल्ला मत करो, आश्रम की लड़कियां यहां परीक्षा देने आई हैं !") और इनकी एक ही डपट से, पल भर में उत्साही खिलाड़ियों का अबाध्य कलरव, एकदम शांत हो जाता। आज ऐसी विनम्रता, क्या किसी दन्तकथा सी–ही अविश्वसनीय नहीं लगती ?

किन्तु कभी एक ऐसा क्षण भी आता है, कि एक परिचित बयार का झोंका हो, या डूबते सूर्य की विशिष्ट लालिमा या जनसंकुल सड़कों की मौलिक छटा अचानक हमें लगता है बिछुड़े मित्र की भांति हमने शहर के बदले विकृत चेहरे को पहचान लिया है और शहर भी हमें पहचान रहा है, कहीं न कहीं, न हम बदले हैं न कलकत्ता !

फिल्मोत्सव के मंच पर जब सत्यजीत राय को उद्बोधन भाषण देते सुन रही थी तो 40 वर्ष पूर्व के आश्रम के उस गम्भीर तटस्थ रहने वाले, अपने समकालीन उस छात्र का स्मरण हो आया जो तब सुकुमार राय के पुत्र के नाम से अधिक विख्यात था। जिस विलक्षण कलम के धनी ने 'आबोल ताबोल' जैसी मनोहारी पुस्तिका की रचना की, उनके पुत्र सत्यजीत की अपनी एक विशिष्ट मित्र मण्डली थी। समरेन्द्र, दिनकर कौशिक, अमिताभ आदि। उस मण्डली का प्रत्येक सदस्य, ऐसा प्रखर आलोचक था कि नाटक हो या साहित्य सभा, छात्राएं डरती रहतीं, कि कब इस

दल की कुख्यात कलम अपनी हस्तलिखित पत्रिका में उनका हलाल न कर दे ! इतने वर्षों बाद जब हम मिले तो लगा अतीत के उस सुखद आश्रम प्रवास की स्मृतियां असंख्य हैं एवं समय है बहुत कम। "हम सबने जो कुछ भी जीवन में पाया है, वह आश्रम की ही देन है" उन्होंने कहा और एकदम यही शब्द दूसरे दिन दुहराए सुचित्रा मित्र ने आज, रवीन्द्र संगीत की प्रख्यात, सुकंठी गायिका सुचित्रा ने, विदेश तक रवीन्द्र संगीत की मधुर लहरी लहरा दी है और अब वहीं अपने प्रवासी पुत्र के पास, बीच–बीच में जाकर रवीन्द्र संगीत के संगीत अनुष्ठानों का आयोजन करती रहती है। यही नहीं, बम्बई में भी उसने रवीन्द्र संगीत की कक्षाएं खोल दी हैं। मुझे आज भी याद है, जब वह पहली बार आश्रम में आई तो कलकत्ते के बाद, उसे आश्रम का सरल जीवन अपनाने में थोड़ा समय लगा था। उसके पिता सौरीन्द्र मुखोपाध्याय बंगाल के जाने–माने साहित्यकार थे। उनकी दो पुत्रियों में से एक ने एक विदेशी से विवाह किया था। दो चोटियां लटकाकर सुचित्रा जब छात्रावास में आई तो कुछ ही क्षणों में उसके रोब और कंठ का सिक्का आश्रम में जम गया।

इतने वर्षों बाद, जब वह मिली तो हम दोनों को एक साथ आश्रम की वह संध्या याद आ गई जब खोवाई की रांगामाटी की एक चट्टान पर बैठ मैंने उसे एक मोहक पहाड़ी लोरी सिखाई थी।" "भौ मेरो घुंघराली भौ, भौ मांगन छौ चीनी आहा"–ठेठ पहाड़ी उच्चारण और ऐसी निपुणता से उसने लोरी दोहरा दी थी कि मैं दंग रह गई थी। उसे इतने वर्षों में भी वह लोरी याद है। मुझे सुनाने लगी तो मन में एक बार फिर यौवन की वही उल्लसित झलक तिरने लगी।

तीसरी सहपाठिनी भी उसी फिल्मोत्सव की रंगीन भीड़ में मिली। अनेक चेहरों को तो देख रही थी, शशि कपूर, जैनिफर, कुणाल, सुचित्रा सेन, वसन्त चौधरी, सौमित्र चैटर्जी किन्तु कहां

था वह चेहरा, जिसे मैं ढूंढ़ रही थी। मैं उसे फोन पर बता चुकी थी कि मैं उत्सव में आऊंगी, तुम भी आ रही हो, देखो कौन किसे पहले पहचानता है। बूझो तो बूझो की बुझौवल में देखो कौन पहले जीतता है।

उस वैविध्यपूर्ण भीड़ में सहसा उसने साड़ी का आंचल कन्धे पर खींचा और पार्श्व में बैठे अपने पति से कुछ कहकर हंसी और उसी हंसी के सूत्र से मैंने उसे पहचान अपनी संधानी गुलेल का रबर खींचा, "नुकू !" और वह आकर मुझसे लिपट गई।

"इस नाम से मुझे पुकारने वाले अब रह ही कहां गए हैं, फिर तेरी आवाज का लटका पहचानने में क्या कभी भूल कर सकती हूं।" अरुंधती देवी सुनने के आदी कानों की स्मरण शक्ति, विस्मृत नुकू सुनते ही आंखों से अधिक समर्थ सिद्ध हुई। आमने–सामने बैठकर भी जो आंखें एक–दूसरे को नहीं पहचान पा रही थीं वह अतीत के एक छोटे से सम्बोधन से चैतन्य हो उठीं।

बंगाल की प्रख्यात चलचित्र अभिनेत्री, निर्देशिका अरुंधती देवी, जिसने अभिनय एवं निर्देशन दोनों में समान रूप से ख्याति प्राप्त की, देश–विदेश घूमी और आज टूटते स्वास्थ्य से भी पराजित नहीं हुई हैं। "तू मुझे अपना उपन्यास भेजना, मैं उस पर फिल्म बनाऊंगी" उसने मेरे हाथ पकड़कर कहा—मैं उस अन्धेरे प्रेक्षागृह में भी उसका चेहरा देख पा रही थी। कैसा आश्चर्य था कि इतने वर्षों में भी, उन फीरोजी आंखों का यौवन ज्यों–का–त्यों धरा था, उसके मोहक स्मित में, अब भी वही आकर्षण था, जो कभी आश्रम के बीसियों सौन्दर्य रसिक छात्रों का हृदय अपनी मुट्ठी में बन्द करने में समर्थ था !

आचार्य क्षितिमोहन सेन के परिवार से मिलन, मेरे कलकत्ता प्रवास का सर्वाधिक आनन्ददायक पर्व था। उनकी पुत्रवधु अणिमा,

आज उसी को देखा तो पहचान नहीं पाई। "लम्बे अर्से से अस्वस्थ तो रही ही हूं उस पर नीलिमा के पति के असामयिक निधन ने एकदम तोड़ दिया है।" उसकी आंखें छलछला आईं, नीलिमा उसकी छोटी बहन रवीन्द्र संगीत की प्रख्यात गायिका है।

दूसरी सहपाठिनी को देखा तो मन और खिन्न हो गया। बड़ी–बड़ी आंखों के रस का सागर सूख कर, एकदम ही विलुप्त हो चुका था। घुंघराले घने काले केश, जो कभी उसकी पीठ पर घनघटा से लहराते थे। अब सिकुड़ कर एक सुपारी से जूड़े में सिमट गए थे। भग्नदन्त पंक्ति ने कपोलों को निमग्न कर दिया था। मैं अवाक खड़ी ही रह गई–"क्या हो गया तुझे, एकदम ही बुढ़ा गई !"

एक म्लान हंसी का उत्तर देकर वह चुप बैठी रही, धीरे–धीरे संयम का बांध टूटा, पुलिस की गोली खाकर, पहले छोटा भाई गया, स्वतंत्रता संग्राम का सम्भवतः सबसे छोटा सेनानी, पति मिला बेहद शक्की उसे आठ संतान की जननी बना, दीर्घ वैवाहिक जीवन में विष घोल, उसे एक प्रकार से चौराहे पर ही छोड़ गया। फिर भी वैधव्य से जूझ उसने पुत्र–पुत्रियों को उच्च शिक्षा दिलाई। "एक पुत्री ने स्वयं एक समृद्ध गृह के पुत्र से रिश्ता पक्का कर लिया। किन्तु उस पात्र को कैंसर ने छीन लिया। एक पुत्र को नशे की गोलियों की लत लग गई, एक ईसाई लड़की से विवाह कर, वह परिवार से विलग हो गया। छठे–छमाहे घर आता है और मुझे ढोल–दमासे सा पीट–पाट चला जाता है। दूसरी लड़की होटल में रिसेप्सनिस्ट हो गई थी। व अभागिनी भी होटल के किसी बैरे के साथ निकल गई–अब आश्रम की स्मृतियां ही मेरी एकमात्र सम्बल हैं।"

गुरु गोविंद दोऊ खड़े

श्री प्रभात कुमार मुकर्जी, सुदीर्घ आठ वर्षों तक मेरे गुरु रहे। उनके दिवंगत होने का समाचार सुना तो वर्षों पूर्व के अंतराल को चीर, उस सौम्याकृति गुरु का चेहरा आंखों के सामने आ गया। जैसे, अभी भी उसी स्नेहसिंचित दृष्टि से सिंचित कर डपट रहे हों, "की हे, आबार फांकी ? किच्छू पोड़िया आसो नांइ।" क्यों फिर फांकी ? (मूर्ख बनाना) कुछ पढ़ कर नहीं आई हो। "अब कभी–कभी लगता है कि कैसे मूर्खता की थी हमने ! ऐसे–ऐसे दुर्लभ गुरुजनों से शिक्षा पाने का अवसर व्यर्थ ही गंवा दिया, अज्ञानवश उन्हीं की कक्षा से भाग निकलने का अविवेकी प्रयास आज पश्चात्ताप से चित्त खिन्न कर देता है। न जाने कितनी बार डांट खाई है और न जाने कितनी बार कक्षा में, सब सहपाठियों के सम्मुख, कान पकड़ पीरियड भर खड़े रहने का दुर्लभ सुख भोगा है, कक्षा भी ऐसी कि तपतपाती धूप और उससे भी अधिक ज्वलंत धरणी, न बैठने की कुर्सियां, न चहारदीवारी–पत्थर के गोलाकार बेंच उस पर बिछे श्रीनिकेतनी आसन सामने लगा बोर्ड, हाथ में डस्टर लिए प्रभात मुकर्जी।

आज, जब 'देश' पत्रिका में छपा उनका नवीनतम चित्र देखती हूं तो लगता है यह तो प्रभात दा नहीं हैं, किन्तु फिर उस तीक्ष्ण दृष्टि में वही प्रभात दा मिल जाते हैं जिन्हें हम पहचानते थे। तब, उनकी करीने से कटी फ्रेंच दाढ़ी का एक भी बाल सफेद नहीं था, घुंघराले बाल, कभी कुर्ते पर शाल और कभी बन्द गले का पट्टू का कोट। बुद्धिदीप्त चेहरे पर उन्नत नासिका, अधरों पर निरन्तर थिरकती हंसी, कुछ कुछ भीतर को धंसी दंतपंक्ति। यही

दर्शनीय व्यक्तित्व उनके वार्धक्य में जैसे और भी मोहक हो उठा था। किसी ने लिखा था कि प्रभात मुकर्जी ने केवल रवीन्द्रनाथ की शिक्षाधारा ही को नहीं ग्रहण किया उनकी आकृति को भी ग्रहण कर लिया। सचमुच एक झलक में मुझे लगा आश्रम की प्रार्थना सभा में बैठे गुरुदेव को ही देख रही हूं, वैसी ही काली टोपी, वही श्वेत दाढ़ी, कुछ–कुछ बड़े बाल और वैसा ही चोगा। आश्रम से डेढ़ मील दूर भुवनडांगा ग्राम में उनका निजी मकान था, उनकी सहधर्मिणी सुधामयी थीं, उस समय के प्रसिद्ध ब्राह्म दार्शनिक सीतानाथ तत्वभूषण की पुत्री। बोलपुर बालिका विद्यालय की स्थापना उन्हीं ने की थी, वे एक योग्य पति की सुयोग्य पत्नी थीं। उनका सबसे छोटा पुत्र चित्तप्रिय, मेरा सहपाठी था, इसी से उन्होंने सदैव मुझे पुत्रीवत माना, मुझ पर इसीलिए भी उनकी विशेष कृपा थी कि मैं अबंगाली थी। आश्रम गुरुजनों की यह एक विशेषता थी कि वे अपने विभिन्न प्रदेशीय छात्र छात्राओं का विशेष ध्यान रखते थे। सुधा दी कहतीं, "आहा कन दूर थेके ऐसे छे मये, हिमालयेर कन्या नाम ओ आबारा गौरा" "आहा कितनी दूर से आई है लड़की, हिमालय की कन्या और उस पर नाम भी गौरा है।" मेरे यही क्रडेशियल्स मुझे उस गुरुगृह में अनायास ही प्रवेश करा गए।

प्रभात दा एक विलक्षण गुरु थे। वे हमें इतिहास पढ़ाते थे पर प्रायः ही इतिहास की परिधि लांघ वे अपने अतीत की स्मृतियों की मंजूषा हमारे सम्मुख खोल कर रख देते। "अरे पानीपत के युद्धों की नीरस तारीखें तो घर में भी रट सकती हो, अब सुनो बाल्मीकी प्रतिभा में अमिता ठाकुर क्या बनी थी, लाल साड़ी में एकदम अग्नि ज्वाला !

कभी किसी छात्र को अपनी कक्षा में अन्यमनस्क हो आकाश की ओर शून्य दृष्टि से निहारते पकड़ लिया, सहसा धाराप्रवाह भाषण बन्द हो गया। उस छात्र के सामने जाकर खड़े हो गए

और कठोर स्वर में गरजे, "की हे विश्वामित्र, कोन मेनका नामछे आकाश थेके ?"

"क्यों जी विश्वामित्र, आज कौन मेनका अवतरित हो रही है आकाश से ?" और फिर हतभागे के सिर के बीचोंबीच पड़ा प्रभात दा का "टेक्का" वे मारते बहुत कम थे किन्तु गुरुतर अपराध करने पर उनका वही कुख्यात टेक्का पड़ता तो भेजे से लेकर पेट की आंतें तक झन्ना जातीं। हाथ को उल्टा कर अधखुली मुट्ठी की दो अंगुलियों की हड्डियों के उसी कठिन प्रहार का नाम हमने धरा था टेक्का। आज उसी टेक्के का प्रताप है कि लेखनी अभी तक आलोचकों के छोटे–मोटे टेक्कों को अवज्ञा से दूर झटक देती है।

एक बार उनके पुत्र चित्तप्रिय ने, जिसके मासूम सुदर्शन चेहरे को देख हम उसे बेबी कहकर पुकारते थे, क्लास में ही मुझे पिन चुभो दी। मैंने तुरन्त प्रभात दा से नालिश कर दी, उसे टेक्का तो पड़ा ही, भरी क्लास में उससे माफी भी मंगवाई गई। उससे बड़ा पुत्र देवप्रिय मेरे बड़े भाई का सहपाठी था, बाद में उसने रिजर्व बैंक के उच्चतम पद पर आसीन हो प्रचुर यश बटोरा, देश–विदेश का भ्रमण किया किन्तु तब वह आश्रम का सबसे विनम्र शांत छात्र था। उससे बड़ा सत्यप्रिय आश्रम का सुकंठी गायक था। उसका गाया—

"सकाले आठटा बाजे
पांचटा कैनो बाजे ना
ओ बाबूजी–बाबूजी"

तब पूरे आश्रम का फरमाइशी गाना बन गया था। पिता के कठोन अनुशासन के चाबुक ने पुत्र को ही नहीं, उनके असंख्य छात्र–छात्राओं को भी सदैव ऐसे साधे रखा कि हम में से प्रत्येक के व्यक्तित्व पर उनकी व्यक्तिगत अभिज्ञता की अमिट छाप सदा के लिए अंकित हो गई।

रवीन्द्रनाथ ने आश्रम की गुरुपल्ली को दूर–दूर से रत्न ला–लाकर संवारा था। वे श्री हरिचरण बंदोपाध्याय को लाए थे, बंगीय शब्दकोष की रचना के लिए श्री विधुशेखर शास्त्री पधारे संस्कृत पाली एवं तिब्बतीय ग्रंथों की रचना करने, हजारीप्रसाद द्विवेदी आए हिन्दी की बागडोर संभालने, प्रभात मुकर्जी आए भारत एवं विश्व की संस्कृति की रूपरेखा संजोने, प्रभात दा, जातीय शिक्षा पार्षद से शिक्षा प्राप्त कर आए थे।

विश्वभारती की स्थापना के मूल में तत्कालीन अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा के प्रति घोर अमत था। रवीन्द्रनाथ ने अपने प्रसिद्ध लेख "शिक्षार हेर फेर" में यही भावना स्पष्ट की थी। मैं सोचती हूं, आज जब हम आए दिन नवीन शिक्षा–पद्धति के नए–नए सुझाव देते नहीं थकते, हमारे शिक्षाविदों को चाहिए कि वे इस लेख को बार–बार पढ़ें। रवीन्द्रनाथ ने उसमें लिखा था कि अंग्रेजों द्वारा प्रचलित शिक्षा व्यवस्था, भारतीय संस्कृति के मूल में कुठाराघात कर रही है, देश, समाज, मनुष्य को मनुष्य से विच्छिन्न कर रही है, यह रटन्त विद्या, डिग्री हासिल करने में भले ही सहायक हो, हमारे जीवन को देहरी लांघ यह हमारे भीतर प्रवेश नहीं कर सकती।

ऐसे ही समय, प्रभात कुमार मुकर्जी, रवीन्द्रनाथ की दक्षिण भुजा बने। जब युवा प्रभात दा आश्रम में आए तब गुरुदेव ने प्रार्थना सभा में, उनका परिचय इन शब्दों में दिया था, "आज हमारे इस नवीन आश्रमवासी ने आकर मुझसे कहा कि आज मेरा जन्मदिन है, मैंने आज अठारह वर्ष पूरे कर लिए। इस नवीन अतिथि के यौवनकाल का आरम्भ है एवं मेरी इस प्रौढ़ वयस का प्रांत ! इन दो सीमाओं के बीच का समय कितना दीर्घ प्रतीत होता है, मैं आज जहां खड़ा हूं, वहां से इसकी वयस के ये अठारह वर्ष, गणना और परिमाप करने पर, लगता है, वह मुझसे कितनी दूर खड़ा है। इसकी और मेरी वयस के बीच कितना कुछ आबाद होगा, कितनी फसलें फलेंगी, कितनी कटेंगी, कितने सुभिक्ष, कितने

दुर्भिक्ष प्रतीक्षरत, रहेंगे, पता नहीं! कुछ समय के लिए प्रभात दा आश्रम छोड़ कर चले गए, 1918 में आप पुनः पाठभवन के शिक्षक बन कर आए एवं विश्वभारती ग्रंथागारिक का पद भार भी साथ–साथ संभाला। तब से लेकर 1954 तक प्रभात दा विश्वभारती के विशाल केंद्रीय ग्रंथागार की संयोजना में जुटे रहे।

अद्‌भुत ज्ञान था उनका। कौन–सी पुस्तक कहां रखी है, किसे हमें पढ़ना चाहिए, कौन–सी पुस्तक किशोर मस्तिष्क के लिए गरिष्ठ है सब उन्हें पता रहता।

मुझे याद है कि तब मैं बी. ए. के अंग्रेजी आनर्स की छात्रा थी, उन दिनों जेम्स जायस के यूलिसिस की बड़ी चर्चा थी। हमारे छात्रावास की कुछ विदेश शिक्षिता छात्राओं ने उसकी बड़ी प्रशंसा की। मैं भी उसे लेने लाइब्रेरी गई। उन दिनों लाइब्रेरियन सत्य मुकर्जी थे। आज की रवीन्द्र संगीत की प्रख्यात गायिका कनिका देवी के पिता सत्य दा, पुस्तकें देने में बड़े उदार थे। किन्तु, उस दिन प्रभात दा कुर्सी पर विराजमान थे–"की हे देवी, कोनटा बोई चाय ? (क्यों देवी कौन–सी पुस्तक चाहिए।) मैंने नाम बताया तो उबल पड़े, "के बललो तोके ओई बोई पडते ? पाला पाला" किसने कहा तुझसे उस पुस्तक को पढ़ने को ? भाग भाग ''' यही नहीं, दूसरे दिन उन्होंने फिर मुझे कक्षा में पीरियड भर खड़ी रखा।" "उनी मेमसाहब होय छेन, आज युलिसिस पड़बेन काल के सिगरेट खाबेन।" "ये मेमसाहब हो गई हैं, आज यूलिसिस पढ़ेंगी कल सिगरेट पिएंगी।" लज्जा से मेरा सिर झुक गया, मैं रुआंसी हो गई। बाद में चित्तप्रिय ने ही शायद सुधा दी से मेरे उस सार्वजनिक अपमान की चुगली कर दी। उन्होंने दूसरे दिन ही मुझे बुला भेजा अपने हाथ के बने सुस्वादु नारियल के लड्डू खिलाए और प्रभात दा को प्रताड़ित किया। छि–छि बूड़ोधाड़ी मेये के ऐमन करे क्लास दांड़ कराले कैनो ? (छि–छि सयानी लड़की को सबके सामने ऐसी खड़ी क्यों किया जी ?)

आज उस स्नेही गुरु का स्मरण करती हूं तो लगता है उस दिन उन्होंने मुझे कान पकड़ कर क्लास से बाहर भी कर दिया होता तो वह मेरे जीवन की सबसे सुखद स्मृति होती।

अपने छात्र–छात्राओं की कल्पना शक्ति, अनुभव क्षमता को आंखों ही आंखों में तोलने में वे पटु थे, इतिहास एवं भूगोल उनके प्रिय विषय थे। उन विषयों को जिन्हें उनसे पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वे ही उस विलक्षण गुरु की महत्ता को समझ सकते हैं, उस शिक्षा को माध्यम बना, वे जिस सहजता से हमारा परिचय मानवजाति से कराते थे, यही नहीं पद–पद पर हमारी निजस्व मर्यादा को उकसाते, देश की चेतना की ओर हमें जागृत कर जिस पटुता से हमें एक बृहत्तर मानव समाज से युक्त कर देते थे, वह योग्यता आज कितने गुरुजनों में रह गई है ?

बहुत वर्षों बाद उनका इस युगीन शिक्षा–पद्धति के विषय में एक लेख पढ़ा था। "सार्ध शताब्दी काल, में बंग्लादेश अंग्रेजी शिक्षा का अभ्यस्त हो गया है, पुरातन शताब्दी के अंतकाल में आकर आज जाति देखना चाहती है कि उसने क्या पाया है, क्या खोया है। जातीय जीवन के लाभ क्षति का हिसाब मिलाने पर आज हम देखते हैं कि हम बाहर और भीतर दोनों ओर दीवालिया हैं। विदेशियों के साथ दीर्घकालीन संघर्ष एवं स्पर्श से एक प्राचीन देश अपनी सम्पूर्ण सम्पदा से वंचित हो गया है, ऐहित्य से विच्युत हो गया है। संस्कृति आज भ्रष्ट हो गई है, देश सम्मोहित है आत्मविस्मृत है, उसकी दृष्टि मोहजड़ित है, यूरोपीयता के बहिर्वास का वह कंगाल है, प्रतीच्य की वाणी, उसके कंठ का आभूषण बन गई है, उसके लिए गर्व का विषय है।"

ये शब्द उस शिक्षा गुरु के हैं जिन्होंने किसी कालेज की आनुष्ठानिक शिक्षा नहीं पाई। फिर भी अनेक पुस्तकें लिखीं, प्रचुर ख्याति पाई। प्रतिभा के जौहरी रवीन्द्रनाथ ही ऐसे अनूठे रत्न को चुन सकते थे।

●●●